। अनुसंधान परिषद, दिल्ली विश्वविद्यालय, ि

जैनेन्द्र और उ... उपन्यास

★

ले० रघुनाथसरन झालानी, एम. ए.

★

शनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क, दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

था अध्याय

जैनेन्द्र के उपन्यासों का सामान्य विवेचन

वाँ अध्याय

सम्पादकीय

'जैनेन्द्र और उनके उपन्यास' हिन्दी-अनुसन्धान-परिषद्-ग्रन्थमाला का सातवाँ ग्रन्थ है। हिन्दी अनुसन्धान परिषद् हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, की संस्था है जिसकी स्थापना अक्टूबर सन् १९५२ में हुई थी। परिषद् के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं—हिन्दी-वाङ्मय-विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप उपलब्ध साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थ दो प्रकार के हैं। एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत किया गया है, दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच. डी. की उपाधि प्रदान की गई है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं 'हिन्दी काव्यालंकारसूत्र' तथा 'हिन्दी वक्रोक्तिजीवित'। 'अनुसन्धान का स्वरूप' नामक ग्रन्थ में अनुसन्धान के स्वरूप पर मान्य आचार्यों के निबन्धों का संकलन है जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गये थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रन्थ हैं (१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (२) हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास (३) सूफी मत और हिन्दी साहित्य। इस वर्ग का चौथा ग्रन्थ 'अपभ्रंश साहित्य' इस वर्ष प्रकाशित हो रहा है।

इस वर्ष से परिषद् की योजना में दिल्ली विश्वविद्यालय की एम.ए. परीक्षा में स्वीकृत प्रबन्धों का प्रकाशन भी सम्मिलित कर लिया गया है। प्रस्तुत कृति का प्रकाशन इसी क्रम में हो रहा है। 'जैनेन्द्र और उनके उपन्यास' के लेखक श्री रघुनाथसरन झालानी हमारे विदग्ध छात्र हैं जिनके उदीयमान व्यक्तित्व में प्रतिभा के स्पष्ट अंकुर विद्यमान हैं। यों तो जैनेन्द्र के विषय में हिन्दी में बहुत काफी लिखा गया है, परन्तु वह प्रायः पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों तक ही सीमित है। श्री झालानी की पुस्तक कदाचित् उनके विषय में प्रथम स्वतन्त्र आलोचनात्मक कृति है। इसमें जैनेन्द्र के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का स्वच्छ अध्ययन उपस्थित किया गया है। सामान्यतः लेखक का दृष्टिकोण व्याख्यात्मक ही रहा है। श्रद्धा-प्रेरित जिज्ञासु की भाँति उन्होंने जैनेन्द्र-साहित्य के प्रेरणा-स्रोत तथा संगठन-तत्त्वों का विश्लेषण करके ही संतोष कर लिया है और निर्णय देने का अधिकार सौजन्यवश त्याग दिया है। फिर भी इस अध्ययन में प्रशंसा-

स सैद्धान्तिक विवेचन तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का अभाव नहीं है। उपन्यास
त्त्व-निरूपण में सैद्धान्तिक प्रणाली तथा व्यक्तित्व-विवेचन में मनोवैज्ञानिक पद्धति
भी सफल प्रयोग है। लेखक, अथवा लेखक की ओर से हम, प्रौढ़ता तथा गम्भीरता
दावा नहीं कर सकते किन्तु सूक्ष्म दृष्टि का आभास आपको अनेक प्रसंगों में
यास ही मिल जायेगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

मैं अपनी तथा परिषद् की शुभ कामनाओं सहित श्री झालानी की इस कृति
हिन्दी जगत के समक्ष प्रस्तुत करती हूँ। आशा है इसका यथायोग्य स्वागत होगा।

९-४-५६

सावित्री सिन्हा
सम्पादिका, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

प्राक्कथन

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ उपन्यासकार हैं। मत की सापेक्षता को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकारों में उनका स्थान अक्षुण्ण है। परन्तु उन पर आलोचनाएँ अधिक नहीं लिखी गई हैं। समीक्षात्मक कुछ फुटकर लेख ही उपलब्ध होते हैं। इनमें से अधिकांश से मैंने असन्तोष का अनुभव किया। मुझको लगा कि ये समालोचनाएँ सतही हैं—उनमें जैनेन्द्र की आत्मा को समझने का प्रयास कम है और अपने मत और अपनी दृष्टि के आरोप की चेष्टा अधिक की गई है।

एक विद्वान ने कहा है कि विश्व में कुछ अर्थ की संप्रतीति कलाकार को सृजन के लिए बाध्य करती है, और उसकी कला में सार्थकता की प्रतीति आलोचक को उसकी समीक्षा के लिए प्रेरित। समालोचना के दो मुख्य कर्तव्य माने गये हैं, एक कला का व्याख्यान (interpretation), और दूसरे उसका मूल्यांकन। मेरे विचार में कलाकार को और उसकी कला को समझने तथा उसकी व्याख्या करने में ही यदि सम्पूर्ण प्रक्रिया की इति न भी मानी जाये, तो भी इसका महत्व मूल्यांकन की अपेक्षा कहीं अधिक है। कारण यह है कि मूल्यांकन में आत्मनिष्ठता कहीं अधिक होती है, तद्गत निर्णय का आरोप दूसरों को अच्छा नहीं भी लग सकता है। अतएव व्याख्यान करते हुए विश्लेषण स्वयं अपने आप में इतना सूक्ष्म और गहन होना चाहिए कि समीक्षा का पाठक कला के मर्म को पा सके और उस विषय में औचित्य-अनौचित्य का, महत्त्व-अमहत्त्व का निर्णय अपने लिए स्वयं कर सके।

मैंने जैनेन्द्र की कला को समझने और समझाने का प्रयत्न अधिकांशतः उन्हीं की दृष्टि से किया है। चूंकि आत्मनिष्ठता से तो पूर्णतः बचा नहीं जा सकता था, अतः वह इस विवेचना में मिलेगी ही। मूल्यांकन की भी चेष्टाएँ अनेक की गई हैं पर यत्न रहा है कि वहाँ अपनी दृष्टि की अभिव्यक्ति ही अधिक रहे, उसका आरोप कम से कम हो। यद्यपि प्रस्तुत प्रबन्ध एम० ए० (१९५३-५५) की परीक्षा के लिए लिखा गया है तथापि विवेचन में मौलिकता को पूर्ण अवकाश प्राप्त हुआ है।

चूंकि इस प्रबन्ध की सीमा में जैनेन्द्र के उपन्यास ही नहीं, वह स्वयं भी आ जाते हैं, अतः प्रथम अध्याय में उनका संक्षिप्त परिचय देने का प्रयास किया

गया है। यह परिचय व्यक्ति जैनेन्द्र और लेखक जैनेन्द्र दोनों का ही है, अन्यथा परिचय अपूर्ण रहता। नवीन सामग्री के साथ-साथ समस्त संगत उपलब्ध सामग्री को एक ही स्थल पर एकत्र किया गया है।

दूसरे अध्याय में उपन्यास की व्युत्पत्ति, उसकी परिभाषा और क्रिया-कल्प (Technique) की संक्षिप्त विवेचना की गई है। बहुत ही संक्षिप्त और प्रासंगिक होने के कारण यद्यपि इस अध्ययन में नवीनता के लिए अवकाश नहीं था फिर भी हिन्दी के समालोचना ग्रन्थों में इस विषय पर जो कहा गया है उसके अतिरिक्त भी कुछ नए तथ्यों की ओर इसमें संकेत अवश्य मिलेगा। इसी अध्याय के दूसरे खण्ड में जैनेन्द्र के आगमन तक के हिन्दी उपन्यास का छोटा-सा पर्यालोचन भी प्रस्तुत किया गया है। अध्याय का अन्त हिन्दी-उपन्यास के क्षेत्र में जैनेन्द्र के पदार्पण के साथ होता है।

तीसरे अध्याय में जैनेन्द्र कुमार के सातों उपन्यासों का विशिष्ट और विस्तृत विवेचन किया गया है। इस विवेचन में मुख्य दृष्टि जैनेन्द्र को और उनकी कला को समझने की ही रही है क्योंकि मैंने पाया है कि जैनेन्द्र के विषय में अनेक समीक्षकों में कुछ भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। अतएव आलोच्य कृतियों की कथा और चरित्रों की विस्तार से व्याख्या की गई है और उसकी पुष्टि में उपन्यासों में से उद्धरणों का मुक्त प्रयोग किया गया है।

अगले अध्याय में इन्हीं उपन्यासों की सामान्य और तुलनात्मक समीक्षा क्रिया-कल्प की दृष्टि से प्रस्तुत की गई है। इसमें जैनेन्द्र के उपन्यासों की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, भाषा-शैली आदि का विस्तृत अध्ययन है। यहाँ यह कहना अनपेक्षित न होगा कि यथासम्भव पुनरावृत्ति का परिहार किया गया है। परन्तु जैसा कि हैनरी जेम्स ने कहा है कि घटनाओं में चरित्र प्रतिफलित होता है और चरित्र घटनाओं द्वारा निर्धारित होता है; शैली, कथावस्तु, उद्देश, चरित्र-चित्रण आदि इतने अन्योन्याश्रित हैं, इतने अभिन्न हैं कि एक का दूसरे में उल्लेख अनिवार्य-सा है। फिर भी पुनरावृत्ति से बचने की चेष्टा की गई है। शिल्प सम्बन्धी अनेक बातों का विवेचन तीसरे अध्याय में किया जा सकता था पर वैसा न करके चौथे अध्याय में ही उनका सम्यक् अनुशीलन किया गया है। किन्तु इस अध्याय की भी अपनी सीमा थी। इस में उपन्यासों के वास्तु-कौशल की समीक्षा पृथक्-पृथक् अधिक नहीं की जा सकती थी।

पाँचवें और अन्तिम अध्याय में उपन्यासकार जैनेन्द्र की सन्धि को आँका ... ही उनके उज्ज्वल से उज्ज्वलतर भविष्य की आशा की गई है।

अन्त में इन पंक्तियों द्वारा अपने निरीक्षक डा० उदयभानु सिंह के प्रति अपनी कृतज्ञता भी मैं प्रकट करना चाहूँगा। डा० सिंह ने इस प्रबन्ध की प्रगति में जिस धैर्य और सहानुभूति से काम लिया और अनेक स्थलों पर अपने योग्य दिग्दर्शन से प्रबन्ध का जो महत्त्व बढ़ाया, उसके लिए मैं उनका अत्यधिक आभारी हूँ।

साथ ही हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, और श्रद्धेय डा० नगेन्द्र तथा डा० सावित्री सिन्हा के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ कि इन्होंने इस प्रबन्ध को हिन्दी-विभागीय 'अनुसन्धान-परिषद्' के तत्त्वावधान में प्रकाशित करके मेरे प्रयत्न को समादृत किया।

१० फरवरी '५६ रघुनाथ सरन झालानी

पहला अध्याय

जैनेन्द्र कुमार : एक परिचय

(अ) जैनेन्द्र की संक्षिप्त जीवनी

जैनेन्द्र कुमार का जन्म सन् १९०५ में कौडियागंज (जिला अलीगढ़) में हुआ। वह अपने पिता के लालन-पालन से वंचित रहे क्योंकि पुत्र-जन्म के दो वर्ष बाद ही पिता की मृत्यु हो गयी थी। उनके लालन-पोषण व शिक्षा-दीक्षा का सारा भार उनकी माँ और मामा के कन्धों पर पड़ा। मामा महात्मा भगवानदीन द्वारा हस्तिनापुर में स्थापित गुरुकुल में जैनेन्द्र को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त हुई। गुरुकुल के प्रवेश के समय उनकी अवस्था छह वर्ष की थी। जैनेन्द्र गुरुकुल का ही नामकरण है। पितृ-गृह में उनका नाम आनन्दीलाल रखा गया था। सन् '१८ में गुरुकुल का कुछ कारणों से विघटन हो गया और जैनेन्द्र सात वर्ष के दीर्घ व्यवधान के बाद अपनी माँ की छाया में फिर से आ गये। अपने मामा से जैनेन्द्र को इतना अधिक स्नेह प्राप्त हुआ कि उनके लिए जैसे पिता के अभाव की पूर्ति हो गई। इसके अतिरिक्त महात्मा भगवानदीन के चिन्तनपरक अध्यात्मोन्मुख व्यक्तित्व का जैनेन्द्र पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

जैनेन्द्र ने आरम्भ से ही प्रखर बुद्धि पायी है। यद्यपि वह कक्षा में सदा प्रथम स्थान पाते रहे, फिर भी अन्य सहपाठियों के विपरीत, बोलने व लिखने में वह अत्यधिक संकोच अनुभव करते थे। खेलों में भी उनकी यही दशा थी। वस्तुतः उनका व्यक्तित्व इतना सकोची था कि वह एकान्त पसन्द करते थे। सन् '१८ में गुरुकुल से अलग होने पर उन्हें प्राइवेट मैट्रिक की तैयारी के लिये बिजनौर भेज दिया गया। पर वहाँ से न करने पर अगले ही वर्ष उन्होंने पंजाब से मैट्रिक की परीक्षा पास की। तदनन्तर उच्चतर शिक्षा की प्राप्ति के हेतु जैनेन्द्र को बनारस-विश्वविद्यालय भेजा गया। किन्तु कांग्रेस के असहयोग-आन्दोलन के प्रति अपनी सहानुभूति के कारण वे दो वर्ष में ही शिक्षा छोड़कर दिल्ली चले आये। यह सन् '२१ की बात है। बेकार होने के कारण लाला लाजपतराय के 'तिलक स्कूल आफ़ पौलिटिक्स' में प्रविष्ट हुए पर वहाँ मन नहीं लगा और शीघ्र ही छोड़ने पर विवश हुए।

पहला अध्याय

जैनेन्द्र कुमार : एक परिचय

(अ) जैनेन्द्र की संक्षिप्त जीवनी

जैनेन्द्र कुमार का जन्म सन् १९०५ में कौडियागंज (जिला अलीगढ़) में हुआ। वह अपने पिता के लालन-पालन से वंचित रहे क्योंकि पुत्र-जन्म के दो वर्ष बाद ही पिता की मृत्यु हो गयी थी। उनके लालन-पोषण व शिक्षा-दीक्षा का सारा भार उनकी माँ और मामा के कन्धों पर पड़ा। मामा महात्मा भगवानदीन द्वारा हस्तिनापुर में स्थापित गुरुकुल में जैनेन्द्र को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त हुई। गुरुकुल के प्रवेश के समय उनकी अवस्था छह वर्ष की थी। जैनेन्द्र गुरुकुल का ही नामकरण है। पितृ-गृह में उनका नाम आनन्दीलाल रखा गया था। सन् '१८ में गुरुकुल का कुछ कारणों से विघटन हो गया और जैनेन्द्र सात वर्ष के दीर्घ व्यवधान के बाद अपनी माँ की छाया में फिर से आ गये। अपने मामा से जैनेन्द्र को इतना अधिक स्नेह प्राप्त हुआ कि उनके लिए जैसे पिता के अभाव की पूर्ति हो गई। इसके अतिरिक्त महात्मा भगवानदीन के चिन्तनपरक अध्यात्मोन्मुख व्यक्तित्व का जैनेन्द्र पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

जैनेन्द्र ने आरम्भ से ही प्रखर बुद्धि पायी है। यद्यपि वह कक्षा में सदा प्रथम स्थान पाते रहे, फिर भी अन्य सहपाठियों के विपरीत, बोलने व लिखने में वह अत्यधिक संकोच अनुभव करते थे। खेलों में भी उनकी यही दशा थी। वस्तुतः उनका व्यक्तित्व इतना संकोची था कि वह एकान्त पसन्द करते थे। सन् '१८ में गुरुकुल से अलग होने पर उन्हें प्राइवेट मैट्रिक की तैयारी के लिये बिजनौर भेज दिया गया। पर वहाँ से न करने पर अगले हो वर्ष उन्होंने पंजाब से मैट्रिक की परीक्षा पास की। तदनन्तर उच्चतर शिक्षा की प्राप्ति के हेतु जैनेन्द्र को बनारस-विश्वविद्यालय भेजा गया। किन्तु कांग्रेस के असहयोग-आन्दोलन के प्रति अपनी सहानुभूति के कारण वे दो वर्ष में ही शिक्षा छोड़कर दिल्ली चले आये। यह सन् '२१ की बात है। बेकार होने के कारण लाला लाजपतराय के 'तिलक स्कूल आफ़ पोलिटिक्स' में प्रविष्ट हुए पर वहाँ मन नहीं लगा और शीघ्र ही छोड़ने पर विवश हुए।

इन्हीं दिनों जैनेन्द्र जबलपुर में श्री माखनलाल चतुर्वेदी के सम्पर्क में आये। चतुर्वेदी जी 'कर्मवीर' के तात्कालिक सम्पादक थे। वहीं सुभद्राकुमारी चौहान से उनका परिचय हुआ। श्रीमती चौहान के प्रति जैनेन्द्र ने असीम श्रद्धा का अनुभव किया। उन्हीं के साथ जैनेन्द्र ने कुछ समय बिलासपुर में कांग्रेस के तत्त्वावधान में देश-कार्य किया। वहीं से सन् '२१ के अहमदाबाद के कांग्रेस अधिवेशन में अहमदाबाद पहुँचे किन्तु तभी जैनेन्द्र की माता जी उन्हें दिल्ली वापस लौटा लायीं।

दिल्ली में माता जी की सहायता से पूँजी का प्रबन्ध करके जैनेन्द्र ने साझेदारी में फर्नीचर का व्यापार किया जो कालान्तर में पर्याप्त सफल सिद्ध हुआ। किन्तु सन् २३ में भगवानदीन जी के आह्वान पर जैनेन्द्र नागपुर पहुँचे। वहाँ चल रहे झण्डा-सत्याग्रह के युद्ध में उन्होंने अनेक पत्रों के संवाददाताओं का कार्य किया। किन्तु सरकार इस प्रकार के संवाददाताओं से रुष्ट थी। परिणाम यह हुआ कि उसी वर्ष जैनेन्द्र और उनके साथियों को गिरफ़्तार कर लिया गया। परन्तु तीन माह भी बीते न थे कि सरदार पटेल का सरकार से समझौता हो गया और जैनेन्द्र आदि मुक्त हो गये।

जेल से मुक्ति के बाद शीघ्र ही जैनेन्द्र को व्यापार से भी मुक्ति मिल गयी क्योंकि जब वह दिल्ली आये तो साझीदार से उन्हें प्रवंचना प्राप्त हुई और वह व्यापार से हाथ धोने पर बाध्य हुए।

सन् २७ में भगवानदीन जी का काश्मीर-यात्रा करने का विचार हुआ, जैनेन्द्र भी साथ हो लिये। और धरती के इस स्वर्ग को जैनेन्द्र ने देखा। सन् '२९ में 'परख' लिखा गया। उसके नायक सत्यधन की काश्मीर-यात्रा की घटना इसी व्यक्तिगत अनुभव पर आधृत है। नव्यतम उपन्यास 'व्यतीत' में जयन्त और चन्द्री की काश्मीर-यात्रा में भी इस अनुभव ने किंचित् अभिव्यक्ति पायी है।

काश्मीर से लौटे तो समस्या सामने आयी कि क्या किया जाये? काम-काज कुछ था नहीं! नौकरी दे कौन? चतुर्वेदी जी ने कुछ आशा दिलायी किन्तु जैनेन्द्र वहाँ नहीं गये। कई माह बाद माँ से कुछ रुपयों का प्रबन्ध कर नौकरी की खोज में कलकत्ते पहुँचे। अनेक यत्न करने पर भी असफल रहने पर, इससे पहले कि अपने पास की समस्त पूँजी चुक जाये और इस कारण कलकत्ते में भूखे मरने पर बाध्य हो जायें, जैनेन्द्र दस-बारह दिन में ही दिल्ली लौट आये।

जैनेन्द्र ने अनुभव किया कि असफलता और निराशा उनके भाग्य में आदि से अन्त तक सभी जगह लिखी है। उनके शब्द हैं, "ऐसे मैं बाईस-तेईस वर्ष का हो आया। हाथ-पैर से जवान, वैसे नादान। करने-धरने लायक कुछ भी नहीं। पढ़ा तो अधूरा और हर हुनर से अनजान। दुनिया तब तिलिस्म लगती, कि जिसके दरवाजे मुझ पर बन्द थे। पर जहाँ-जहाँ झरोखों से झाँकी देता दीखता कि उस दुनिया में खासी ले-दे, धूमधाम और चहल-पहल मची है। इशारे से वह मुझे बुलाती मालूम होती। पर उस रंगा-रंग सैरगाह की चारदिवारी से बाहर होकर पाता कि मैं अकेला हूँ और सुनसान, सुनसान और अकेला।"[1] जीवन का एक-एक पल भारी हो गया था, सूझ न पड़ता था कि किया क्या जाये। पुस्तकालय ही जैसे आश्रय था। यथासम्भव जैनेन्द्र ने अधिक-से-अधिक समय पुस्तकालय में बिताया। घर पर भी पुस्तकें वास्तविकताओं से बचने का साधन थीं। कुछ समय 'खामखयाली और मटरगश्ती' में भी बीतता था।

इस घोर आर्थिक दुरवस्था के कारण जैनेन्द्र ने अमित मानसिक यातना का अनुभव किया। अपनी असहाय अवस्था और असमर्थता के कारण "मैं बेहद अपने में डूबता जाता था।" अपने यौवन काल की इन विषमताओं ने जैनेन्द्र को आत्महत्या के शब्दों में सोचने पर विवश किया। किन्तु माँ उनके लिए एक सचाई थी। वृद्धा होती जाती हुई माँ के विचार ने ही उन्हें प्राणान्तक क़दम उठाने से रोक लिया। "ऐसी बेबसी में मैंने लिखा और लिखने ने मुझे जीता रखा।" वास्तव में उस समय लिखना जैनेन्द्र के लिए शुद्ध पलायन और क्षति-पूर्ति का साधन था। अपने भीतर के घुमड़ते हुए जीवन-घातक विचारों, हीन भावनाओं और आकांक्षाओं सभी को जैसे अपने लिखने में उन्होंने उतार दिया और एक प्रकार से हल्के होकर साँस ली। और तीसरी कहानी छपने से जब ४ रुपये का मनीआर्डर जैनेन्द्र के पास आया तो जैसे वह साक्षात् जिन्दगी हो। "२३-२४ वर्षों को दुनिया में बिता कर भी क्या तनिक उस द्वार की टोह पा सका था कि जिसमें से रुपये का आवागमन होता है। मुझे तो लगा कि मेरे निकम्मेपन की भी कुछ क़ीमत है।"

फिर कुछ कहानियाँ और छपीं और १९२९ में पहला उपन्यास 'परख' प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष माँ ने आग्रह किया कि जैनेन्द्र विवाह कर लें। जैनेन्द्र ने अस्वीकार न किया और माँ की पसन्द और प्रबन्ध पर जैनेन्द्र का विवाह हो गया। अब तक आर्थिक स्थिति में विशेष अन्तर नहीं आया था परन्तु अगले ही वर्ष 'परख'

१. लेख 'मैं और मेरी कृति'—जैनेन्द्रकुमार (साहित्य का श्रेय और प्रेय)

पर जब ५००) रुपये का 'एकेडेमी पुरस्कार' प्राप्त हुआ तो माँ-बेटे ने समझा कि लिखना सर्वथा बेकार और अर्थहीन नहीं है।

सन् '३० में जब 'नमक बनाओ' और डाँडी यात्रा का आन्दोलन गाँधी जी के नेतृत्व में चल रहा था तो दिल्ली के सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लेने के कारण जैनेन्द्र को जेल जाना पड़ा। किन्तु शीघ्र ही 'गाँधी-इरविन पैक्ट' हो जाने से १०-१५ दिन से अधिक उनको जेल में नहीं रहना पड़ा। अभी तक जैनेन्द्र कांग्रेस के सदस्य नहीं थे।

सन् '३२ में जैनेन्द्र ने इन्द्र जी (विद्यावाचस्पति) से कांग्रेस के साधारण स्वयं-सेवक बनने की इच्छा प्रकट की। इन्द्र जी उन दिनों दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमिटी के मुख्य कार्य-कर्ताओं में से थे। कुछ ऐसा हुआ कि स्वयं-सेवक न बना कर जैनेन्द्र को आन्दोलन का 'डिक्टेटर' बना दिया गया। आसफ़ अली, नैयर आदि उन दिनों 'वार-कैबिनेट' में जैनेन्द्र के साथियों में से थे। उसी वर्ष के सत्याग्रह में जैनेन्द्र को गिरफ़्तार कर लिया गया। इस सिलसिले में उन्हें साढ़े सात माह की सजा भोगनी पड़ी।

सन् '३२ के बाद जैनेन्द्र ने राजनीतिक आन्दोलनों में भाग नहीं लिया। इस निर्णय के पीछे वह दो घटनाएँ बताते हैं। सन् ३० के आन्दोलन में दिल्ली काश्मीरी गेट से एक बहुत बड़ा जलूस निकाला गया था। मार्ग में उस जलूस प पुलिस ने लाठी-चार्ज किया। जलूस के आगे 'नौजवान सेना' के कुछ सदस्य, जिस नेता जैनेन्द्र थे, जलूस का नेतृत्व करते हुए चल रहे थे। किन्तु स्वयं जैनेन्द्र प्रबन्ध करते हुए जलूस के पिछले भाग में थे। लाठी-प्रहार से अपने साथियों को आहत हो देख कर जैनेन्द्र के हृदय में एक प्रकार के भय का संचार हुआ। मन में कँपकपी छू गई। उनका कहना है कि वह यदि जलूस छोड़कर नहीं भागे तो इसीलिए कि पैर जम गये थे, वरना मन से तो वह मैदान छोड़ कर भाग ही गये थे। इस अनुभव पर उन्होंने सोचा कि वह नेतृत्व के योग्य नहीं है। वह नेता भी क्या जो अपने साथियों को पिटते हुए देखकर आगे न आये और आघात को अपने वक्ष पर न ले ?

दूसरी घटना सन् ३२ के आन्दोलन में घटी। जैनेन्द्र जेल में थे और वहाँ पर एक बैरक के नेता बना दिए गए थे। एक दिन किसी कारण से लाठी आदि से युक्त जेल-अधिकारी उनकी बैरक पर चढ़ आये। सामने जैनेन्द्र को आना था और वह आये भी किन्तु भय उन्हें जकड़े जा रहा था और निःशक्त किए दे रहा था। इस दूसरी बार भी जब प्राण-रक्षा का भय जैनेन्द्र में समाया तो उन्होंने यह पूर्ण निश्चय

कर लिया कि भविष्य में वह कभी राजनीतिक नेतृत्व नहीं करेंगे। इस प्रकार जैनेन्द्र का राजनीतिक जीवन समाप्त हो गया।

सन् '३५ में प्रेमचन्द की 'हिन्दुस्तानी सभा' में भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्यों के पारस्परिक परिचय और संगम के उद्देश्य से जैनेन्द्र ने 'भारतीय साहित्य-परिषद्' के निर्माण का प्रस्ताव रखा। परिषद् की स्थापना गाँधी जी की अध्यक्षता में इन्दौर में हुई। इसका पहला अधिवेशन नागपुर में सन् '३६ में हुआ। काका कालेलकर और के० एम० मुन्शी इसके मन्त्री थे।

'हंस' की स्थापना में प्रेमचन्द के अतिरिक्त जैनेन्द्र की भी प्रेरणा थी। सन् '३६ में कुछ समय तक जैनेन्द्र प्रेमचन्द के साथ 'हंस' के सह-सम्पादक रहे। फिर प्रेमचन्द के निधन के उपरान्त जैनेन्द्र के आग्रह पर शिवरानी प्रेमचन्द का नाम सम्पादिका के रूप में दिया गया। पर फिर कुछ समय बाद स्वयं जैनेन्द्र ने छह माह के लिए 'हंस' का संपादन किया।

सन् '३९ तक यद्यपि जैनेन्द्र के तीन और उपन्यास ('सुनीता', 'त्यागपत्र', व 'कल्याणी'), पाँच कहानी-संग्रह ('फाँसी', 'वातायन', 'नीलम देश की राज-कन्या', 'एक रात', 'दो चिड़ियाँ',) और एक निबंध संग्रह ('प्रस्तुत प्रश्न') प्रकाशित हो चुके थे, किन्तु फिर भी जैनेन्द्र की आर्थिक स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आया था। उनके शब्दों में 'बेफ़िक्री की रोटी तो कभी मिली नहीं।'

इधर कुछ समय से जैनेन्द्र की विचार-प्रणाली 'कमाई के विरुद्ध' होती जा रही थी। वह अनुभव करते थे कि समाज पर धन का राज्य है, धन वालों का अधिकार है, जब कि श्रम को महत्त्व दिया जाना चाहिए। वस्तुतः यह धन के अभाव की प्रतिक्रिया थी जिसे बुद्धि के बल पर औचित्य (justification) दिया गया। क्रमशः धन के और कमाई के प्रति जैनेन्द्र में विरोध इतना अधिक बढ़ा कि जैनेन्द्र ने यह निश्चय कर लिया कि वह धन कमाना बिल्कुल बंद कर देंगे। और चूँकि साहित्य-रचना से कमाई होती थी, अतः साहित्य लिखना एक प्रकार से सर्वथा बन्द हो गया। यह स्थिति सन् ५१-५२ तक चलती रही। केवल एक-आध, फुटकर कहानी व निबंध लिखे जाते रहे।

(मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जावे तो भौतिक परिस्थितियों के प्रति जैनेन्द्र की यह प्रतिक्रिया साधारण (normal) और स्वस्थ नहीं कही जा सकती। चाहिए था

पर जब ५००) रुपये का 'हिन्दुस्तानी पुरस्कार' प्राप्त हुआ तो माँ-बेटे ने समझा कि लिखना सर्वथा बेकार और अर्थहीन नहीं है।

सन् '३० में जब 'नमक कानून' और 'डांडी यात्रा' का आन्दोलन गांधी जी के नेतृत्व में चल रहा था तो दिल्ली के सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लेने के कारण जैनेन्द्र को जेल जाना पड़ा। किन्तु शीघ्र ही 'गांधी-इरविन पैक्ट' हो जाने से १०-१५ दिन से अधिक उनको जेल में नहीं रहना पड़ा। अभी तक जैनेन्द्र कांग्रेस के सदस्य नहीं थे।

सन् '३२ में जैनेन्द्र ने इन्द्र जी (विद्यावाचस्पति) से कांग्रेस के साधारण स्वयं-सेवक बनने की इच्छा प्रकट की। इन्द्र जी उन दिनों दिल्ली प्रांतीय कांग्रेस कमिटी के मुख्य कार्य-कर्ताओं में से थे। कुछ ऐसा हुआ कि स्वयं-सेवक न बना कर जैनेन्द्र को आन्दोलन का 'डिक्टेटर' बना दिया गया। आसफ अली, नैयर आदि उन दिनों 'वार-कैबिनेट' में जैनेन्द्र के साथियों में से थे। उसी वर्ष के सत्याग्रह में जैनेन्द्र को गिरफ्तार कर लिया गया। इस सिलसिले में उन्हें ढाई साल कैद की सजा भोगनी पड़ी।

सन् '३२ के बाद जैनेन्द्र ने राजनीतिक आन्दोलनों में भाग नहीं लिया। इस निर्णय के पीछे वह दो घटनाएँ बताते हैं। सन् ३० के आन्दोलन में दिल्ली में काश्मीरी गेट से एक बहुत बड़ा जलूस निकाला गया था। मार्ग में उस जलूस पर पुलिस ने लाठी-चार्ज किया। जलूस के आगे 'नौजवान सेना' के कुछ सदस्य, जिनके नेता जैनेन्द्र थे, जलूस का नेतृत्व करते हुए चल रहे थे। किन्तु स्वयं जैनेन्द्र प्रबन्ध करते हुए जलूस के पिछले भाग में थे। लाठी-प्रहार से अपने साथियों को आहत होते देख कर जैनेन्द्र के हृदय में एक प्रकार के भय का सचार हुआ। मन में कँपकपी छूट गई। उनका कहना है कि वह यदि जलूस छोड़कर नहीं भागे तो इसीलिए कि पैर जम गये थे, वरना मन से तो वह मैदान छोड़ कर भाग ही गये थे। इस अनुभव पर उन्होंने सोचा कि वह नेतृत्व के योग्य नहीं है। वह नेता भी क्या जो अपने साथियों को पिटते हुए देखकर आगे न आये और आघात को अपने ऊपर न ले?

दूसरी घटना सन् ३२ के आन्दोलन में घटी। जैनेन्द्र जेल में थे और वहाँ पर एक बैरक के नेता बना दिए गए थे। एक दिन किसी कारण से लाठी आदि से युक्त जेल-अधिकारी उनकी बैरक पर चढ़ आये। सामने जैनेन्द्र को आना था और वह आये भी किन्तु भय उन्हें जकड़े जा रहा था और निःशक्त किए दे रहा था। इस दूसरी बार भी जब प्राण-रक्षा का भय जैनेन्द्र में समाया तो उन्होंने यह पूरा निश्चय

कर लिया कि भविष्य में वह कभी राजनीतिक नेतृत्व नहीं करेंगे। इस प्रकार जैनेन्द्र का राजनीतिक जीवन समाप्त हो गया।

सन् '३५ में प्रेमचन्द की 'हिन्दुस्तानी सभा' में भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्यों के पारस्परिक परिचय और संगम के उद्देश्य से जैनेन्द्र ने 'भारतीय साहित्य-परिषद्' के निर्माण का प्रस्ताव रखा। परिषद् की स्थापना गांधी जी की अध्यक्षता में इन्दौर में हुई। इसका पहला अधिवेशन नागपुर में सन् '३६ में हुआ। काका कालेलकर और के० एम० मुन्शी इसके मन्त्री थे।

'हंस' की स्थापना में प्रेमचन्द के अतिरिक्त जैनेन्द्र की भी प्रेरणा थी। सन् '३६ में कुछ समय तक जैनेन्द्र प्रेमचन्द के साथ 'हंस' के सह-सम्पादक रहे। फिर प्रेमचन्द के निधन के उपरान्त जैनेन्द्र के आग्रह पर शिवरानी प्रेमचन्द का नाम सम्पादिका के रूप में दिया गया। पर फिर कुछ समय बाद स्वयं जैनेन्द्र ने छह माह के लिए 'हंस' का संपादन किया।

सन् '३९ तक यद्यपि जैनेन्द्र के तीन और उपन्यास ('सुनीता', 'त्यागपत्र', व 'कल्याणी'), पाँच कहानी-संग्रह ('फाँसी', 'वातायन', 'नीलम देश की राज-कन्या', 'एक रात', 'दो चिड़ियाँ',) और एक निबंध संग्रह ('प्रस्तुत प्रश्न') प्रकाशित हो चुके थे, किन्तु फिर भी जैनेन्द्र की आर्थिक स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आया था। उनके शब्दों में 'बेफ़िक्री की रोटी तो कभी मिली नहीं।'

इधर कुछ समय से जैनेन्द्र की विचार-प्रणाली 'कमाई के विरुद्ध' होती जा रही थी। वह अनुभव करते थे कि समाज पर धन का राज्य है, धन वालों का अधिकार है, जब कि श्रम को महत्त्व दिया जाना चाहिए। वस्तुतः यह धन के प्रभाव की प्रतिक्रिया थी जिसे बुद्धि के बल पर औचित्य (justification) दिया गया। क्रमशः धन के और कमाई के प्रति जैनेन्द्र में विरोध इतना अधिक बढ़ा कि जैनेन्द्र ने यह निश्चय कर लिया कि वह अब कमाना बिल्कुल बंद कर देंगे। और चूँकि साहित्य-रचना से कमाई होती थी, अतः साहित्य लिखना एक प्रकार से सर्वथा बन्द हो गया। यह स्थिति सन् ५१-५२ तक चलती रही। केवल एक-आध, फुटकर कहानी व निबंध लिखे जाते रहे।

(मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो भौतिक परिस्थितियों के प्रति जैनेन्द्र की यह प्रतिक्रिया साधारण (normal) और स्वस्थ नहीं कही जा सकती। चाहिए था

पर जब ५००) रुपये का 'एकेडेमी पुरस्कार' प्राप्त हुआ तो वो देखे में चमका कि लिखना सर्वथा बेकार और अर्थहीन नहीं है।

सन् '३० में जब 'नमक बनाओ' और 'डांडी यात्रा' का आन्दोलन गांधी जी के नेतृत्व में चल रहा था तो दिल्ली के सत्याग्रह-आन्दोलन में भाग लेने के कारण जैनेन्द्र को जेल जाना पड़ा। किन्तु शीघ्र ही 'गांधी-इर्विन पैक्ट' हो जाने से १०-१५ दिन से अधिक उनको जेल में नहीं रहना पड़ा। अभी तक जैनेन्द्र कांग्रेस के सदस्य नहीं थे।

सन् '३२ में जैनेन्द्र ने इन्द्र जी (विद्यावाचस्पति) से कांग्रेस के साधारण स्वयं-सेवक बनने की इच्छा प्रकट की। इन्द्र जी उन दिनों दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी के मुख्य कार्य-कर्ताओं में से थे। कुछ ऐसा हुआ कि स्वयं-सेवक न बना कर जैनेन्द्र को आन्दोलन का 'डिक्टेटर' बना दिया गया। आसफ अली, मैमर आदि उन दिनों 'वार-कैबिनेट' में जैनेन्द्र के साथियों में से थे। उसी वर्ष के सत्याग्रह में जैनेन्द्र को गिरफ्तार कर लिया गया। इस सिलसिले में उन्हें साढ़े सात माह की सजा भोगनी पड़ी।

सन् '३२ के बाद जैनेन्द्र ने राजनीतिक आन्दोलनों में भाग नहीं लिया। इस निर्णय के पीछे वह दो घटनाएँ बताते हैं। सन् ३० के आन्दोलन में दिल्ली में काश्मीरी गेट से एक बहुत बड़ा जलूस निकाला गया था। मार्ग में उस जलूस पर पुलिस ने लाठी-चार्ज किया। जलूस के आगे 'नौजवान सेना' के कुछ सदस्य, जिनके नेता जैनेन्द्र थे, जलूस का नेतृत्व करते हुए चल रहे थे। किन्तु स्वयं जैनेन्द्र प्रबन्ध करते हुए जलूस के पिछले भाग में थे। लाठी-प्रहार से अपने साथियों को आहत होते देख कर जैनेन्द्र के हृदय में एक प्रकार के भय का संचार हुआ। मन में कँपकपी छूट गई। उनका कहना है कि वह यदि जलूस छोड़कर नहीं भागे तो इसीलिए कि पैर जम गये थे, वरना मन से तो वह मैदान छोड़ कर भाग ही गये थे। इस अनुभव पर उन्होंने सोचा कि वह नेतृत्व के योग्य नहीं है। वह नेता भी क्या जो अपने साथियों को पिटते हुए देखकर आगे न आये और आघात को अपने वक्ष पर न ले?

दूसरी घटना सन् ३२ के आन्दोलन में घटी। जैनेन्द्र जेल में थे और वहाँ पर एक बैरक के नेता बना दिए गए थे। एक दिन किसी कारण से लाठी आदि से युक्त जेल-अधिकारी उनकी बैरक पर चढ़ आये। सामने जैनेन्द्र को आना था और आये भी किन्तु भय उन्हें जकड़े जा रहा था और निःशक्त किए दे रहा था। इस बार भी जब प्राण-रक्षा का भय जैनेन्द्र में समाया तो उन्होंने यह पूरा निश्चय

कर लिया कि भविष्य में वह कभी राजनीतिक नेतृत्व नहीं करेंगे। इस प्रकार जैनेन्द्र का राजनीतिक जीवन समाप्त हो गया।

सन् '३५ में प्रेमचन्द की 'हिन्दुस्तानी सभा' में भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्यों के पारस्परिक परिचय और संगम के उद्देश्य से जैनेन्द्र ने 'भारतीय साहित्य-परिषद्' के निर्माण का प्रस्ताव रखा। परिषद् की स्थापना गाँधी जी की अध्यक्षता में इन्दौर में हुई। इसका पहला अधिवेशन नागपुर में सन् '३६ में हुआ। काका कालेलकर और के० एम० मुन्शी इसके मन्त्री थे।

'हंस' की स्थापना में प्रेमचन्द के अतिरिक्त जैनेन्द्र की भी प्रेरणा थी। सन् '३६ में कुछ समय तक जैनेन्द्र प्रेमचन्द के साथ 'हंस' के सह-सम्पादक रहे। फिर प्रेमचन्द के निधन के उपरान्त जैनेन्द्र के आग्रह पर शिवरानी प्रेमचन्द का नाम सम्पादिका के रूप में दिया गया। पर फिर कुछ समय बाद स्वयं जैनेन्द्र ने छह माह के लिए 'हंस' का संपादन किया।

सन् '३९ तक यद्यपि जैनेन्द्र के तीन और उपन्यास ('सुनीता', 'त्यागपत्र', व 'कल्याणी'), पाँच कहानी-संग्रह ('फाँसी', 'वातायन', 'नीलम देश की राज-कन्या', 'एक रात', 'दो चिड़ियाँ',) और एक निबंध संग्रह ('प्रस्तुत प्रश्न') प्रकाशित हो चुके थे, किन्तु फिर भी जैनेन्द्र की आर्थिक स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं आया था। उनके शब्दों में 'बेफिक्री की रोटी तो कभी मिली नहीं।'

इधर कुछ समय से जैनेन्द्र की विचार-प्रणाली 'कमाई के विरुद्ध' होती जा रही थी। वह अनुभव करते थे कि समाज पर धन का राज्य है, धन वालों का अधिकार है, जब कि श्रम को महत्त्व दिया जाना चाहिए। वस्तुतः यह धन के अभाव की प्रतिक्रिया थी जिसे बुद्धि के बल पर औचित्य (justification) दिया गया। क्रमशः धन के और कमाई के प्रति जैनेन्द्र में विरोध इतना अधिक बढ़ा कि जैनेन्द्र ने यह निश्चय कर लिया कि वह अब कमाना बिल्कुल बंद कर देंगे। और चूँकि साहित्य-रचना से कमाई होती थी, अतः साहित्य लिखना एक प्रकार से सर्वथा बन्द हो गया। यह स्थिति सन् ५१-५२ तक चलती रही। केवल एक-आध, फुटकर कहानी व निबंध लिखे जाते रहे।

(मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो भौतिक परिस्थितियों के प्रति जैनेन्द्र की यह प्रतिक्रिया साधारण (normal) और स्वस्थ नहीं कही जा सकती। चाहिए था

कि वह और अधिक कर्मठ होते, अपने साहित्य के समुचित प्रकाशन और प्रचार तथा ऐसे ही अन्य कार्यों में प्रयत्नशील होते जिससे धन की प्राप्ति का मार्ग खुला रहता। किन्तु चूंकि जैनेन्द्र में स्वभावतः ही कर्मठता का अभाव है, उन्होंने अपनी इस अकर्मण्यता को दार्शनिक सिद्धान्तों का आश्रय लेकर (rationalized) कर लिया। उनके 'motivelessness' की स्थिति का प्रतिपादन यदि पूर्णतः rationalization नहीं है तो उसका पर्याप्त अंश उसमें अवश्य है।)

उपर्युक्त १०-११ वर्ष की अवधि में जैनेन्द्र ने क्या किया, इस विषय में स्वयं जैनेन्द्र से भी विस्तार से सूचना प्राप्त नहीं होती। वह कहते हैं कि इस काम में कुछ उल्लेख्य रहा ही नहीं। किन्तु इस अवधि में जैनेन्द्र ने शहर से दूर, गाँवों में बसने का प्रयत्न किया किन्तु अनेक पारिवारिक कारणों से वह अधिक सफल नहीं हुआ। इस बीच में उनके और उनके परिवार के पालन-पोषण का साधन क्या था? इस विषय में भी जैनेन्द्र कोई निश्चित व स्पष्ट उत्तर नहीं देते।

परन्तु जब जैनेन्द्र ने यह पाया कि उनकी इस स्थिति ने उनके परिवार के लोगों में हीन भावनाएँ और ग्रन्थियाँ उत्पन्न कर दी हैं और उनमें से कोई भी सुखी नहीं है, तो जैनेन्द्र ने परिवार के प्रति अपने दायित्व का अनुभव किया और निश्चय किया कि वह एक पाई भी बिन-कमाई ग्रहण नहीं करेंगे, एक पैसा भी दान का नहीं लेंगे। धन के प्रति यह तत्परता जैनेन्द्र में इतनी अधिक बढ़ गई है कि उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति यह सोचने लगे हैं कि जैनेन्द्र में हार्दिक गुणों की न्यूनता है। धन-प्राप्ति के प्रयत्न में जैनेन्द्र और उनके पुत्र दिलीप कुमार ने 'पूर्वोदय प्रकाशन' नाम से एक प्रकाशन संस्था, ५१ में स्थापित की। अब तक 'पूर्वोदय प्रकाशन' से जैनेन्द्र-साहित्य के अन्तर्गत १८-१९ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्हीं में जैनेन्द्र के तीन नए उपन्यास भी हिन्दी-जनता के सामने आ चुके हैं।

अभी हाल में ही दिल्ली राज्य की ओर से जैनेन्द्र कुमार 'साहित्य-अकादमी' के एकमात्र प्रतिनिधि निर्वाचित किए गए हैं। 'साहित्य-अकादमी' की साधारण सदस्यता के अतिरिक्त जैनेन्द्र उसकी कार्यकारिणी समिति के भी सदस्य हैं।

जैनेन्द्र का शब्द

(आ) जैनेन्द्र—लेखक के रूप में

(क) लेखन के क्षेत्र में जैनेन्द्र के प्रथम प्रयास—

जैनेन्द्र की पहली कहानी लिखे जाने की घटना इस प्रकार घटी कि जैनेन्द्र और उनके एक मित्र की पत्नी दोनों की लालसा थी कि उनका लिखा कुछ प्रकाशित हो और साथ ही चित्र भी छपे। दोनों ने निश्चय किया कि आगामी शनिवार को वे दोनों एक दूसरे को अपनी लिखी कहानियाँ दिखायें। दिन आया तो भाभी की कहानी तैयार थी किन्तु जैनेन्द्र यही सोचते रहे कि लिखें तो लिखें कैसे ! किन्तु जैसे-तैसे मित्र और उनकी पत्नी के जीवन की एक वास्तविक घटना को लेकर जैनेन्द्र ने एक कहानी लिख डाली और भाभी को दिखाई। जैनेन्द्र मानते हैं कि वह उनकी पहली कहानी थी।

दूसरी, तीसरी व चौथी कहानियाँ एक मित्र श्री कालीचरण शर्मा की हस्त-लिखित पत्रिका 'ज्योति' के लिये लिखी गयीं। यह पत्रिका तीसरी-चौथी कक्षाओं के छात्रों के लिये निकाली गयी थी। कुछ माह बाद उन्हीं में से एक कहानी 'खेल' 'विशाल भारत' में 'श्री जिनेन्द्र' के नाम से प्रकाशित हुई। यह जैनेन्द्र के लिये आशा-तीत घटना थी। और जब इस कहानी से ४ रुपये का मनीआर्डर पारिश्रमिक-रूप में आया तो उसका जैनेन्द्र के जीवन में कितना महत्व था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। तत्कालीन साहित्य-समाज में 'खेल' की काफी प्रशंसा हुई और उसे 'एक चीज' समझा गया। 'ज्योति' में से ली गई दूसरी कहानी 'फोटोग्राफ़ी' छपी। यह कहानी अपने संग बीती एक घटना का यथावत् चित्रण थी।

किन्तु इन कहानियों से पूर्व आचार्य चतुरसेन शास्त्री के 'अन्तस्तल' के प्रभाव में जैनेन्द्र ने 'देश जाग उठा था' गद्य-काव्य लिखा। यह काश्मीर-यात्रा के ठीक बाद की घटना है। 'अज्ञात' नाम से यह रचना 'कर्मवीर' के सम्पादक चतुर्वेदी जी के पास आचार्य चतुरसेन शास्त्री के आग्रह-पूर्ण नोट के साथ भेजी गयी पर प्रकाशित नहीं हुई। आठ-दस दिन बाद एक और रचना जैनेन्द्र ने लिखी। आचार्य चतुरसेन ने उसे 'विश्वमित्र' को भेज दिया पर यह प्रयास भी असफल रहा। फिर 'विशाल भारत' में 'देवी अहिंसे' नामक गद्य-काव्य छपा। उन दिनों गाँधी जी के व्यक्तित्व के प्रभाव में अहिंसा का नाम और भाव सर्वत्र व्याप्त था। उसी अहिंसा को 'देवी' नाम से सम्बोधित करके कुछ भावुकता-पूर्ण प्रश्न किये गये थे। यह गद्य-काव्य ही जैनेन्द्र की प्रथम प्रकाशित मौलिक रचना थी। किन्तु भाग्य की विडम्बना यह हुई कि जैनेन्द्र

के स्थान पर, सम्पादक की असावधानी (या कहें कि सावधानी ?) के कारण चतुरसेन शास्त्री का ही नाम छपा।

'ज्योति' की कहानियों के बाद हिन्दी-प्रचारिणी-सभा की बैठकों में पढ़ने के लिये कुछ कहानियाँ जैनेन्द्र ने लिखी। उनमें से 'देश-प्रेम' को लेकर जैनेन्द्र को जो अनुभव हुआ, वह उनके लिये अविस्मरणीय है। दिल्ली के एक मासिक पत्र के सम्पादक श्री रामचन्द्र शर्मा ने वह कहानी जैनेन्द्र से प्रकाशनार्थ प्राप्त की। किन्तु कुछ माह बीतने पर भी कहानी नहीं छपी तो जैनेन्द्र पता लगाने दफ्तर पहुँचे। मालूम हुआ कि देवीप्रसाद धवन 'विकल' के यहाँ से वह अभी-अभी शुद्ध होकर आयी है, और शीघ्र ही प्रकाशित की जायेगी। किन्तु जैनेन्द्र को यह स्वीकार न था। उनको शंका थी—'इतनी शुद्ध हो कर यह मेरे नाम से कैसे छप सकती है, क्योंकि मैं कहाँ उतना शुद्ध हूँ ?' अन्त में, एक नई कहानी बदले में देने का वादा करने पर उन्हें मुक्ति मिली। रात को कहानी का विचार करते-करते ही उन्हें नेपोलियन की याद आई और उसी को लेकर उन्होंने सर्वथा काल्पनिक कथावस्तु का निर्माण किया। सुबह हुई तो कहानी लिखी गई, नाम था 'स्पर्द्धा'। श्री रामचन्द्र शर्मा द्वारा कुछ भी पारिश्रमिक देने की असमर्थता दिखाने पर वह कहानी प्रकाशनार्थ 'माधुरी'-सम्पादक प्रेमचन्द को नहीं, अपितु सम्मति पाने के हेतु कहानी-सम्राट् प्रेमचन्द के पास साहस करके भेजी गयी। किन्तु कहानी 'सधन्यवाद' वापिस लौटा दी गयी। बात यह थी कि विदेशी पात्रों और विदेशी वातावरण के कारण 'स्पर्द्धा' को अनुवाद समझा गया।

परन्तु जैनेन्द्र प्रेमचन्द से सम्पर्क स्थापित करने के विचार पर दृढ़ थे। कुछ दिन बाद उन्होंने 'अन्धे के भेद' नामक एक दूसरी कहानी प्रेमचन्द के पास भेज दी। परिणाम यह हुआ कि उस दिन से प्रेमचन्द-जैनेन्द्र में पत्र-व्यवहार आरम्भ हो गया।

(ख) जैनेन्द्र के लेखन के प्रेरणा-स्रोत

कथा-साहित्य के सृजन में यथार्थ भौतिक जीवन ने जैनेन्द्र के लिये अनेक बार वस्तु-सामग्री जुटाई है। कहीं-कहीं उन्होंने यथार्थ से केवल कुछ संकेत ग्रहण किए हैं और कहीं-कहीं जीवन का यथावत् चित्रण भी उनके साहित्य में मिलता है।

पहली कहानी, जैसा कि जैनेन्द्र ने कहा है कि एक मित्र और उनकी पत्नी के जीवन में घटी एक दिलचस्प घटना के आधार पर लिखी गयी थी। 'फोटोग्राफी'

नामक कहानी में तो जैसे जीवन का 'फोटोग्राफ' ही लिया गया था। 'देश जाग उठा था' गद्य-काव्य की प्रेरणा नागपुर में जनरल भवारी को शस्त्र-सत्याग्रह में हुई चार साल की सजा से मिली थी।

'अन्धे के भेद' नामक कहानी अपनी मानजी के आग्रह पर जैनेन्द्र ने एक अन्धे फ़कीर को लेकर लिखी थी। वह अन्धा फ़कीर गली में भीख माँगता फिरता था। कल्पना से अन्धे के अतीत की रचना की और उसे ऐसे प्रस्तुत किया कि पाठक उसके भविष्य के प्रति भी उत्सुक रहे।

'ब्याह' नाम की कहानी की प्रेरणा जैनेन्द्र को एक बूढ़े बढ़ई से मिली जो पुस्तकालय में कुछ मरम्मत करता हुआ अध्ययन में व्याघात उत्पन्न कर रहा था। उस बढ़ई को देखकर जैनेन्द्र कुछ क्षण के लिये जड़ीभूत हो गये। फिर घर आकर उन्होंने 'ब्याह' की रचना की। इस कहानी में एक सुशिक्षित कुलीन युवती आई० सी० एस० अंग्रेज युवक प्रेमी को छोड़ कर एक बूढ़े बढ़ई के साथ दूर उसके गाँव भाग जाती है और उसके गँवार लड़के के साथ ब्याह रच लेती है।

६ वर्ष की अवस्था में गुरुकुल में जैनेन्द्र आदि पुराण की कथा सुन रहे थे। भरत बाहुबलि का प्रसंग चल रहा था। इस प्रसंग का उनके चित्त पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और उनके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। सन् '३४ में बाहुबलि के इसी प्रसंग को लेकर जैनेन्द्र ने 'बाहु या बलि' कहानी की सृष्टि की। जैनेन्द्र का विचार है कि उपर्युक्त पौराणिक कथा प्रसिद्ध उपन्यास 'थाया' के सार से भी अधिक मर्मस्पर्शी है। इस प्रसंग से वह इतने प्रभावित हैं कि कदाचित् वह इस पर एक उपन्यास भी लिखें।

'परख' की रचना भी कुछ अंश तक बाह्य परिस्थितियों से प्रेरणा प्राप्त होने पर हुई। जैनेन्द्र के मन पर एक घटना का बोझ था और उससे अपने को हल्का करने के लिये वह विवश थे। "कह नहीं सकता कि पुस्तक में जीवन की घटित घटना और मन की कल्पना के तारों का ताना-बाना किस तरह बैठा। पुस्तक घटना और कल्पना का कुछ ऐसा रासायनिक मिश्रण है कि उन दोनों के किसी अणु को भी एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।"

सत्यवती दिल्ली में कांग्रेस की एक बड़ी सेविका हुई हैं। उसे सार्वजनिक जीवन में कार्य करते हुए देखकर जैनेन्द्र के मन में कुछ विचार उठे। सत्यवती की शहादत और त्याग की तो प्रशंसा की ही जायेगी पर उसके जीवन में क्या शान्ति

थी ? केवल इतनी सी बात को लेकर 'मुनदा' की कथा-वस्तु का निर्माण हुआ। किन्तु मुनदा का जीवन सत्यवती का जीवन नहीं है। यथार्थ से तो केवल एक संकेत ग्रहण किया गया है।

'त्याग-पत्र' की प्रेरणा के विषय में जैनेन्द्र का कहना है कि उस की प्रेरणा हाथरस के एक मकान में देखी एक स्त्री की मुद्रा से मिली थी। उस स्त्री की वेश-भूषा और सादगी का जैनेन्द्र पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा था।

कुन्तला कुमारी नाम की उड़िया भाषा की एक कवयित्री एस्प्लेनेड रोड पर रहा करती थीं। जैनेन्द्र का उनसे परिचय था। वह उनके व्यक्तित्व से प्रभावित थे। उनकी मृत्यु पर जैनेन्द्र ने उनके संस्मरण के रूप में 'कल्याणी' की रचना की। उक्त कवयित्री के जीवन के विषय में जैनेन्द्र सब कुछ तो नहीं जानते थे किन्तु अपने परिचय में वह जो कुछ भी समझ सके थे, उसको कल्पना से समृद्ध कर के उन्होंने पृष्ठों पर उतार दिया। कल्याणी का व्यक्तित्व कदाचित् इसी लिये पाठक के लिए इतना रहस्यमय है, कि लेखक स्वयं कुन्तला कुमारी के विषय में काफी अन्धकार में था।

'व्यतीत' के सम्बन्ध में जैनेन्द्र का यह कहना है कि यद्यपि 'शेखर—एक जीवनी' से इसका साम्य सचेष्ट नहीं है, लेकिन स्वयं 'अज्ञेय' का जीवन इस उपन्यास के लिखने में 'लक्ष्य तो नहीं, हाँ, उपलक्ष्य' अवश्य था।

यह ठीक है कि जैनेन्द्र ने वास्तविक जीवन से अपने कथा-साहित्य का ताना-बाना बुनने के लिये अनेक सूत्र ग्रहण किये हैं। किन्तु उसमें उनकी कल्पना और आदर्श का पुट ही अधिक है। उनकी मान्यता है कि कहानी में कुछ जीवन-गति, कुछ स्पन्दन और कुछ तनाव अनुभव होना चाहिए क्योंकि वही कहानी का रस है। इसी रस की अनुभूति घटना के द्वारा भी कराई जा सकती है, और बिना घटना के भी। कहानी में 'दैहिकता और मांसलता' चाहे न भी हो, आत्मा अर्थात् भावात्मकता ही कहानी के रस के लिये पर्याप्त है, बल्कि उनके मत में ऐसी कहानियाँ ही अधिक स्थायी सिद्ध होती हैं। जैनेन्द्र और उनकी कृति में सम्बन्ध तो अवश्य है परन्तु उस सम्बन्ध के सूत्र अलक्ष्य हैं क्योंकि यह सम्बन्ध वास्तविकता का इतना नहीं है जितना कि कल्पना और आदर्श का है। वस्तुतः रोमाण्टिक होना जैनेन्द्र को स्वीकार है क्योंकि 'इसमें कर्त्ता और कृति का सम्बन्ध आत्मीय का ही रहता है। रोमांस का सम्बन्ध सजीव है, कृत्रिम नहीं।"

(ग) लेखक जैनेन्द्र का स्वभाव

जैनेन्द्र एक बड़े कुशल शिल्पी समझे जाते हैं। किन्तु वह अपने कला-दक्ष होने की बात सर्वथा अस्वीकार करते हैं। वह कहते हैं—"जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मुझे अपने अन्दर किसी भी कोने में कोई कला नहीं मिली है और यह भी कि मेरा उस बड़भागिन से दूर का भी रिश्ता नहीं है।"

वस्तुतः 'कला' शब्द में किसी हुनर और उस हुनर की शिक्षा व अभ्यास का भाव अन्तर्भूत है। जैनेन्द्र यह मानने को तैयार नहीं हैं, कि वह किसी ऐसी कला से परिचित हैं जो नियम व विधि-विधान से जकड़ी हुई हो। "ऐसा होता हो तो मुझे पता नहीं। कम से कम मेरे साथ ऐसा कुछ नहीं हुआ। हर कहानी के साथ मैंने अनुभव किया है कि मैं निपट नया हूँ। पहिले लिखी जा चुकीं कहानियाँ उस वक्त काम आने से साफ बच गईं, ऐसा कभी मालूम नहीं हुआ। आज भी कहानी लिखूं तो उसी झिझक और द्विविधा का बोध होगा जो पहली कहानी लिखते समय हुआ था। लिखना मेरे लिए ऐसा चलना है जहाँ आगे राह नहीं है।" इससे मुझे ख्याल होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि कहानी कला या शिल्प हो ही नहीं, बल्कि सृष्टि हो।...प्रत्येक सृष्टि पृथक् गर्भ का फल है। यानी अपना पृथक् आनन्द, पृथक् वेदना। एक फार्मूले और एक युक्ति में से अब जितनी चाहें एक नमूने की वस्तु निकाली जा सकती है और इस काम में शायद कुछ हुनर भी दरकार हो। पर कहानी लिखने में ठीक वैसा सुभीता है, यह मेरा अनुभव नहीं है।"[1]

कुछ विशिष्ट नियमों व सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर और नाप और नक्शे बना कर कहानी लिखी भी जा सकती है पर जैनेन्द्र का प्रश्न है कि उसमें प्राण कहाँ से प्रतिष्ठित होंगे। वह प्राण वस्तुतः लेखक की ही आत्मा में से उसकी रचना में आते हैं किन्तु बँधे-बँधाये नियमों में कहानी को जकड़ देने से कहानी की धड़कन बन्द हो जाती है। किन्तु इसके विपरीत जैनेन्द्र की मान्यता है, कहानी में यदि प्राण प्रतिष्ठित कर दिये जायें तो फिर कलात्मकता इतनी दुष्प्राप्य नहीं रहती। इसलिए जैनेन्द्र कभी योजना बनाकर अथवा सोच-विचार के साथ नहीं लिखते। "लिखना आरम्भ करता हूँ तो एक बात आ जाती है और उसी में एक अध्याय पूरा हो जाता है।" 'परख' और आरम्भ की कुछ कहानियों को छोड़ कर जैनेन्द्र ने स्वयं कुछ नहीं लिखा है। बात यह है कि वह 'डिक्टेट' कराना पसन्द करते हैं। अपना अधिकांश साहित्य 'डिक्टेट' करके ही उन्होंने लिपिबद्ध किया है। इसके अतिरिक्त एकान्त के

१. लेख "मैं और मेरी कला"—जैनेन्द्र कुमार

अभाव में भी लिखवाने के वह अभ्यस्त हो गये हैं। एक बार 'डिक्टेट' करके वह रचना को शुद्ध करने की दृष्टि से दुबारा नहीं पढ़ते क्योंकि उनका कहना है कि वह किसी रचना को जितनी बार पढ़ेंगे, उतनी ही बार वह उसमें कुछ शुद्धि, कुछ परिवर्तन लाने की चेष्टा अवश्य करेंगे। इसी लिए वह 'डिक्टेट' करके रचना को एक ओर हटा देते हैं। विषय की कमी जैनेन्द्र ने कभी अनुभव नहीं की। उनका कहना है कि वह भागती हुई 'चेतना' में से कोई-सा भी 'पिनपाइंट' ले लेते हैं और उस पर कहानी 'डिक्टेट' कर देते हैं। प्रतिदिन एक नई कहानी गढ़ सकते हैं। पटना में एक दिन तो उन्हें कुल मिलाकर नौ रचनाएँ डिक्टेट करानी पड़ी थीं। 'व्यतीत' रेडियो के लिए लिखा गया था। हर बुधवार को इसकी एक किश्त सुनाई जाती थी। जैनेन्द्र भी सप्ताह में एक ही किश्त 'डिक्टेट' कराते थे, और वह एक दिन पहले मंगलवार को कराई जाती थी। जैनेन्द्र का कहना है कि किसी के उकसाने पर और 'डिक्टेशन' के लिए तैयार रहने पर वह किसी दिन भी और किसी वक्त भी कहानी व उपन्यास के अध्याय रच सकते हैं।

(इ) जैनेन्द्र के विचार

साहित्य और साहित्य के अनेक पहलुओं के सम्बन्ध में संक्षेप में जैनेन्द्र के विचार जान लेना यहाँ असंगत नहीं होगा क्योंकि साहित्य के प्रति लेखक के अपने दृष्टिकोण से सम्यक् परिचय प्राप्त कर लेने से उसके साहित्य को समझने और उसकी व्याख्या करने में पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है।

(क) सत्साहित्य का स्वरूप

जैनेन्द्र की दृष्टि में काल और देश की सीमाओं से ऊपर उठा कर व्यक्ति में अपने बृहत् रूप की चेतना उद्दीप्त करना सत्साहित्य का लक्ष्य होना चाहिए। भेद में अभेद की अनुभूति का उदय अर्थात् 'न मम न परस्येति' का प्रतिपादन सत्साहित्य का इष्ट है। साहित्य को स्थिति से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए क्योंकि उसके द्वारा चैतन्य को प्रबुद्ध और गहन करना वांछित है। किन्तु समाज की रीति नीति को ध्वस्त करने का कोई क्रान्तिकारी लक्ष्य साहित्य का नहीं हो सकता। दर्पणवत् प्रतिबिम्ब से सन्तुष्ट न होकर आदर्शों की स्थापना साहित्य में आवश्यक है। साहित्य द्वारा मनोरंजन के सम्बन्ध में जैनेन्द्र की मान्यता है कि मनोरंजन साहित्य का आवश्यक गुण है क्योंकि कोई नीरस वस्तु हमारे मर्म को नहीं छू सकती। साहित्य को बुद्धि के स्तर पर ही नहीं रुक जाना चाहिए अपितु मन की गहराइयों

को सींचने का सामर्थ्य उसमें अभिप्रेत है। किन्तु सर्वोपरि यह कि साहित्य का श्रेय होना चाहिए—प्रेम और अहिंसा द्वारा ऐक्य का अनुभव कराना। "मनुष्य के हृदय की वह अभिव्यक्ति जो इस आत्मैक्य की अनुभूति में लिपिबद्ध होती है, साहित्य है।"[1]

यहाँ जैनेन्द्र की दृष्टि से प्रेम व अहिंसा की व्याख्या थोड़ी और विस्तार से की जाती है।—सत् एक है और सत्य, ऐक्य। अखिल विश्व की सचेतन एकता की भावना ही परमात्मा है। इस सनातन ऐक्य अर्थात् परमात्मा की लब्धि का साधन है प्रेम। विश्व में फैली नानारूपिणी भिन्नता व्यक्ति को समष्टि के प्रति उकसाती है और उसके अहंभाव को जीवित रखने का प्रयत्न करती है। परन्तु ऐक्य पाने की लालसा भी प्राणों में कम नहीं होती। यह प्रेम नाना स्थानों पर नाना रूपों में प्रकट होता है। तत्काल की सीमा का अतिक्रमण करके यह प्रेम जितना चिरस्थायी, शरीर के प्रतिबन्ध को लाँघकर जितना अखिल-व्यापी और सूक्ष्म-जीवी, तथा क्षणिक स्थूल तृप्ति में न जीकर जितना उत्सर्गजीवी होता है, उतना ही व्यक्ति ऐक्य के अर्थात् सत्य के अर्थात् परमात्मा के अनुरूप होता जाता है। किन्तु चूंकि काल और देश के दो किनारों में जीवन की धारा बहती है, अतः उनका उत्प्लावन कठिन और दु:साध्य होता है, अर्थात् प्रेम सर्वथा निर्विकार सत्यानुरूपी नहीं हो पाता। इस तरह व्यक्ति के जीवन में सदा ही द्वन्द्व चलता रहता है। यह द्वन्द्वावस्था ही जीवन की चेष्टा का और साहित्य का क्षेत्र है।[2]

प्रेम, सत्य, व परमात्मा के सम्बन्ध में जैनेन्द्र के और गांधी जी के विचारों में अद्भुत साम्य है। इसी कारण अनेक विद्वानों ने यह माना है कि गाँधी जी के जीवन-दर्शन का ही प्रतिपादन जैनेन्द्र ने किया है। परन्तु जैनेन्द्र यह अस्वीकार करते हैं कि वह इस विषय में गाँधी जी के ऋणी हैं। अवश्य ही वह गाँधी जी के निकट सम्पर्क में आये और उनमें गाँधी जी के व्यक्तित्व के प्रति अगाध श्रद्धा है, फिर भी विचारणा के विषय में उनका मौलिकता का दावा है। कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि जीवन के प्रति जैनेन्द्र के उपर्युक्त विचार ऊपरी धरातल पर ही स्थित नहीं है, सर्वथा आत्म-चिन्तित हैं।

---

१. द्रष्टव्य—'साहित्य का श्रेय और प्रेय' (निबन्ध संग्रह)—लेखक जैनेन्द्रकुमार, पृष्ठ सं०—५५-५६, १६७ ३१६।
२. द्रष्टव्य—'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—पृष्ठ १०६-१०७।

(ख) सत्साहित्यिक का स्वरूप

सत्साहित्यिक वर्तमान से अधिक भविष्य में रहता है। मनःप्रसादन की अपेक्षा विश्व का कल्याण उसका लक्ष्य है। वह समाज के लिये विलास की सामग्री नहीं जुटाता। वह समाज के रूप की ओर नहीं देखता, उसके रोग की ओर देखता है। वह वर्तमान को अपने स्वप्न के रंगों में रंगा हुआ देखना चाहता है। उसका समाज के साथ सम्बन्ध स्वीकृति का नहीं होता, अस्वीकृति का भी नहीं होता,—मानो वह निष्काम एवं हित-काम होता है। यही कारण है कि दुनिया उसे समझ नहीं पाती, उसकी उपेक्षा करती है, नहीं तो उसकी पूजा करती है, उससे भय करती है। यही उसका दुर्भाग्य है अथवा कहें कि, सौभाग्य है कि वह लौ की भाँति अपने आप में ही जलता रहता है।'

ही है कि रस को एकत्र और सुरक्षित रखें।[1]

"......... मेरे ख्याल में उपन्यास में न व्यक्ति चाहिए, न टाइप। न नीति चाहिए, न राजनीति। न सुधार, न स्वराज। उससे तो प्रेम की सघन व्यथा की माँग ही हो सकती है। और वह प्रेम इस या उसमें नहीं है, बल्कि इस-उस की परस्परता ही में है।"[2]

(घ) उपन्यास का उद्देश्य—

(ङ) मार्क्स और फ्रायड—

मार्क्स और फ्रायड आधुनिक युग के विचारक है, साहित्य पर इनका प्रभाव अमित है। मार्क्स ने समाज का और फ्रायड ने मनुष्य के आभ्यन्तर का विश्लेषण प्रस्तुत करके युग के चिन्तन में योग दिया है। इस प्रकार क्रमशः बाह्य परिस्थिति और आन्तरिक मन:स्थिति में पैठ कर सत्य की शोध की है। आधुनिक साहित्य पर इन का प्रभाव अवांछित नहीं है। इस दृष्टि से कि इन विचार-धाराओं की जन्मभूमि भारत नहीं है, इसी लिये इनके प्रभाव को अनिष्टकारी और अभारतीय कहना और अस्पृश्य मानना सर्वथा असाहित्यिक और असांस्कृतिक है। साहित्य के लिये देश-देशान्तर की सीमाएँ बाधा नहीं होती। मार्क्स और फ्रायड का प्रभाव तभी तक अभारतीय कहा जा सकता है, जब तक कि भारतीय लेखक इनके विचारों को आत्मसात् करके साहित्य में अभिव्यक्त नहीं करते। किन्तु फ्रायड और मार्क्स की विचार-शक्तियों के प्रति प्रशंसा के भाव रखते हुए भी जैनेन्द्र मानते हैं कि सत्य का प्राचीन भारतीय अन्वेषण अधिक भेदक, तलस्पर्शी, निरपेक्ष और स्थायी है। उनका विचार है कि यदि फ्रायड आजीविका के प्रश्न से मुक्त होकर अधिक संत होते तो उनकी लब्धि 'लिबिडो', से भी अधिक गहरी होती। इसी प्रकार यदि मार्क्स अधिक तटस्थ और तत्पर होते तो वह द्वैत के स्थान पर अद्वैत को पा लेते। अद्वैत वह जो अन्तर-बाह्य, सब कहीं एक-रूप व्याप्त है।[3]

---

१ द्रष्टव्य—'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—' पृ० ३८, ३९, ४०, ४३, १७०-१।

२ द्रष्टव्य—'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—पृ० १८८।

३ द्रष्टव्य—'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—पृ० ३८५, ३८६।

(घ) साहित्य में सेक्स का स्थान

इस विषय में जैनेन्द्र की मान्यता है कि सेक्स से न कोई साहित्य अछूता है और न होना चाहिए। 'सेक्स' शब्द के साथ जो एक हठात् विचिकित्सा और जुगुप्सा का भाव सम्बद्ध किया जाता है, उसी के कारण इससे बचने की चेष्टा की जाती है। किन्तु परमेश्वर की सृष्टि में सब स्त्री-पुरुष द्वैत में बँटा है, स्वयं उसकी कल्पना अर्धनारीश्वर के रूप में की गई है। साहित्यकार को समग्र जीवन को स्वीकार करना चाहिए। चीजें अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं होतीं। एकांगी दृष्टि प्रीति की दृष्टि नहीं, भय की दृष्टि है। जो दुनिया को 'सु' और 'कु' में बाँटता है, वह साधु नहीं है। कोई घटना अपने आप में न अश्लील होती है, न श्लील। हमारा उस घटना के साथ क्या नाता है, उसके प्रति क्या वृत्ति है, अश्लीलता इस पर निर्भर करती है।[1]

(ङ) जैनेन्द्र का व्यक्तित्व

जैनेन्द्र के साहित्य के, विशेषकर उनके संदेश के प्रभाव में पाठक अनुमान कर सकता है कि जैनेन्द्र एक सीधे-सादे, सरल वेषभूषा और सरल व्यवहार के व्यक्ति होंगे जिनके व्यक्तित्व का अंग-अंग करुणा, निर्मोहता और सद्भाव से सिक्त होगा, जैसा कि उनका साहित्य है।

निश्चय ही, जैनेन्द्र के बाह्य व्यक्तित्व पर सादगी की छाप है और उनके शरीर पर आज तक किसी ने ऐसी साज-सज्जा नहीं देखी है, जिसमें से अमीरी अथवा प्रदर्शन की बू आती हो। किन्तु उनके अन्तर्व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की धारणाएँ एवं मूल्यांकन उपर्युक्त अनुमान से मेल नहीं खाते। अभी हाल में एक प्रसिद्ध पत्रकार एवं सम्पादक[2] का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने जैनेन्द्र के व्यक्तित्व की मूल-भूत आकार रेखाएँ अपने विभिन्न संस्मरणों का विश्लेषण करके प्रस्तुत की थीं। उस लेख का निष्कर्ष कुछ इस प्रकार था कि जैनेन्द्र एक घोर अहंकारी व्यक्ति हैं जिनमें अपरिग्रह के स्थान पर धन के प्रति प्रबल आग्रह और नेतृत्व की तीव्र चाहना है, कि जैनेन्द्र साहित्यकार और सन्त दोनों से पहिले राजनीतिज्ञ और डिप्लोमैट हैं, कि वह साहित्य के प्रति प्रमादी और एक 'भटके हुए इन्सान' हैं, दुःख अधिक इसी बात का है कि वह 'प्रतिभा के बेजोड़ भाण्डार, शर्तिया जीनियस हैं।' हमें अधिकार नहीं है कि हम जैनेन्द्र के व्यक्तित्व के इस मूल्यांकन पर अविश्वास करें क्योंकि

---

१. द्रष्टव्य—'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—पृ० ३८७-८,३९६,३९१।

२. 'ज्ञानोदय'—अगस्त '५४।

कुछ अन्य व्यक्तियों के मूल्यांकन भी इसी प्रकार हैं, और ये सभी जैनेन्द्र के निकट सम्पर्क में आ चुके हैं।[1]

जैनेन्द्र ने अपने सम्बन्ध में इन धारणाओं को सर्वथा अस्वीकार नहीं किया है क्योंकि दोष किसमें नहीं है? तो क्या हम यह मानें कि अनेकता में एकता, अपरि प्रेम और अहिंसा के आदर्श जिन से सन् ३० से सन् ५३ तक के जैनेन्द्र का समस्त साहित्य सिंचित हुआ है, केवल आदर्श मात्र है, अर्थात् जैनेन्द्र के मन की ऊपरी सतह पर ही इनकी स्थिति है, उसके तल का ये स्पर्श नहीं करते? जैनेन्द्र ने कहा है 'साहित्य साहित्यिक की आत्मा को व्यक्त करता है। साहित्य और साहित्यिक इन दोनों में वैसा पार्थक्य नहीं है, जैसा कि हलवाई और मिठाई में होता है। रचनाकार और रचना-कृति में ऐक्य का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसलिये आप यह निरपवाद मान लीजिए कि अच्छे साहित्य का कर्ता अच्छा ही होता है। साहित्य कृतिकार के मन का प्रतिबिम्ब है।'[2] इन शब्दों को तथा अनेकानेक स्थलों पर इसी प्रकार के अन्य शब्दों को क्या हम अर्थहीन एवं निस्सार मान लें? क्या हम मान लें कि अहिंसा और प्रेम के आदर्श ओढ़ी हुई चादर है जो लोक-व्यवहार में असावधानी से उघड़ जाती है और द्वेष, अहंकार और यश-धन-लिप्सा का मुख दिखा देती है?

परन्तु जैनेन्द्र ने अपने साहित्य के प्रति अपनी सच्चाई की बातें अनेक बार और सबल शब्दों में कही हैं, वह प्रतिमा को अपने प्रति कठोर सच्चाई तथा ईमानदारी के सिवा और कुछ मानते भी नहीं हैं। जैनेन्द्र को मिथ्या समझने का भी हमारे पास कोई कारण नहीं है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि जैनेन्द्र के व्यक्तित्व में अहंकार और समष्टि के लिए अपने उत्सर्ग की विरोधी प्रवृत्तियां साथ-साथ ही देखनी होंगी। और यह कोई विचित्र बात नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति में अहंकार और राग (जैनेन्द्र के शब्दों में—स्पर्धा और समर्पण) की वृत्तियां मूल रूप से विद्यमान रहती हैं। अहम्मन्यता के साथ-साथ दूसरे के

१. इन पंक्तियों का लेखक जैनेन्द्र के निकट सम्पर्क में नहीं आया है। प्रस्तुत व्यक्तित्व विश्लेषण साहित्य और साहित्यकारों में यथार्थ सम्बन्ध खोजने की दृष्टि से, विभिन्न 'मूल्यांकनों' व जैनेन्द्र जी के साहित्य में प्राप्त अनेक सूत्रों के आधार पर किया गया है।

२. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—पृ० ११७-१८।

३. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—पृ० ११८।

लिये मिट जाने की प्रवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति में होती है। जैनेन्द्र में विशिष्टता यह है कि ये दोनों प्रवृत्तियाँ अत्यधिक तीव्र और प्रबल हैं। इस तीव्रता और प्रबलता के कारण दोनों का संघर्ष उनमें अत्यन्त प्रखर हो उठा है।

यह अन्तःसंघर्ष ही जैनेन्द्र के साहित्य की मूल शक्ति है। *उनमें* अहंकार तीखा था किन्तु समर्पण की वृत्ति भी प्रबल थी। दोनों वृत्तियाँ एक दूसरे की शत्रु थीं। यह संघर्ष दो मूल नैसर्गिक वृत्तियों का संघर्ष था। यूँ भी कह सकते हैं कि दोनों वृत्तियाँ चेतन धरातल पर आ चुकी थीं अर्थात् जैनेन्द्र दोनों के संघर्ष के प्रति पूर्ण सजग और सचेत थे। 'सचेत थे' से यह अभिप्राय नहीं कि यह संघर्ष अब नहीं रहा। नहीं, अभी तक जैनेन्द्र में समर्पण की वृत्ति अहंकार पर विजय नहीं पा सकी है। साहित्य-सृजन के और सामान्य जीवन के अनेक स्वस्थ, सुस्थिर, शांत और करुणा-सिक्त क्षणों में समर्पण की वृत्ति ने अहंकार को पराभूत किया है। किन्तु सामान्य व्यवहार में अनेक प्रकार से अहंकार अभिव्यक्ति पा लेता है। वस्तुतः जैनेन्द्र अपने साहित्य के प्रति सच्चे ही हैं क्यों कि उन्होंने अपने समग्र साहित्य में अहंकार और प्रेम का ही संघर्ष निरूपित किया है। उनके उपन्यासों के सभी नायकों (अथवा नायिकाओं) के चरित में अहंकार और अहिंसा का द्वन्द्व आदि से अन्त तक लिखा है। यदि जैनेन्द्र के उपन्यासों में सात्त्विक भाव शम, जो अहिंसा अथवा दंभहीनता का सहज परिणाम होता है, प्राप्य नहीं है तो इसका कारण यही है कि उपन्यासों के नायकों, नायिकाओं को अभी तक प्रेम अथवा अहिंसा सिद्ध नहीं हुई है, दूसरे शब्दों में स्वयं जैनेन्द्र अभी समर्पण अर्थात् राग व अहिंसा की पूर्ण सिद्धि नहीं पा सके हैं। किंतु साथ ही यह *कहना भी जैनेन्द्र के साथ अन्याय होगा कि उनकी समाप्ति पर केवल उत्तेजना ही* प्राप्त होती है। और चूँकि उत्तेजना किसी अहिंसावादी कलाकार की कृति का प्रभाव नहीं होना चाहिए, अतः जैनेन्द्र सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से असफल कलाकार हैं। वास्तव में वस्तु-स्थिति यह है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों का अन्त उत्तेजना में ही नहीं होता, उनके साथ करुणा का एक तीखा प्रभाव भी रहता है क्योंकि, यद्यपि उपन्यासों में चित्रित अहंकार और राग का संघर्ष राग के पक्ष में समाप्त नहीं हुआ है किंतु फिर भी करुणापूर्ण राग का पलड़ा भारी ही रहता है, इसका फल यह कि कारुणिक वातावरण की लेखक ने सदा सृष्टि की है। और फिर शम की अपेक्षा कचोट, अमन और उत्तेजना इसलिये भी अभीष्ट हैं कि पाठक विचार करने पर विवश हो कि अहंकार वास्तव में कितना दुःखदायी और असत्य है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनेन्द्र अपने साहित्य के प्रति सच्चे हैं *क्योंकि जीवन में आदि से सम्प्रति तक व्याप्त* अहं-भाव और प्रेम-भाव का अन्तर्द्वन्द्व ही उनके लिये सबसे बड़ी सच्चाई रहा है और

उसी को उन्होंने अपने साहित्य में विश्व को देना चाहा है। संक्षेप में जैनेन्द्र-साहित्य कृतिकार के मन का प्रतिबिम्ब है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जैनेन्द्र के व्यक्तित्व में ये दो मूल वृत्तियाँ इतनी प्रखर और इतनी संघर्षरत क्यों हैं? बात यह है कि जैनेन्द्र प्रारम्भ से ही बड़े भावुक, कल्पनाशील और संवेदनशील रहे हैं। "वह भौंचक-सा सब ओर देखता और कर्म अपने लिये फ़ैसला करने की जरूरत न समझता। अंग्रेज़ी में जिसे (half wit) कहते हैं, कुछ वही कैफियत समझिए। अचरज में बौखलाया वह अपने साथियों के बीच रहता था और साथी सिर्फ़ उसे गवारा करते थे। अपनेपन का और अपनी जगह का उसे पता नहीं था।—सदा एक खोये और भूले हुए ढब में वह रहता था और दुनिया उसे बाहर और अन्दर चारों तरफ चक्कर में तैरती हुई मालूम होती थी जिसमें से कुछ भी उसकी समझ की पकड़ में न आता था।"[1] "समुन्दर की लहरों पर तिनका तैरता है क्योंकि हलका होता है। उसमें भी कहीं किसी तरफ से वज़न था और बरसों लहरों पर वह इधर-उधर उतराया किया।"[2] किन्तु "शुरू से (ही) जैनेन्द्र में इरादे की ताकत की कमी देखी जा सकती है। वह किस्मत बनाने वाला में से न था, क़िस्मत ही उसे बनाती गई।" इच्छा-शक्ति के अभाव का परिणाम यह हुआ कि जैनेन्द्र अपने स्वप्नों और आकांक्षाओं को कभी भी जिन्दगी में यथार्थ नहीं बना सके। इन्हीं परिस्थितियों पर ही जैनेन्द्र को एक नियतिवादी विचारधारा का मनुष्य बनाने का दायित्व है। किन्तु जैनेन्द्र अपनी असमर्थता और अपात्रता से सन्तुष्ट नहीं थे। अपनी कल्पनाओं के महल का ढह जाना और दुनिया में अपने को अनफिट और व्यर्थ पाना उनको मर्मान्तिक पीड़ा पहुँचाता था। यह यातना आत्म-हनन के विचार की सीमा तक को स्पर्श कर चुकी थी। जैनेन्द्र वैसे ही जन्म से मेधावान थे,[3] किन्तु इस अन्तर्वेदना ने तो उनकी बुद्धि को और भी अधिक तीखा और पैना कर दिया। घोर अतृप्ति और यातना ने उन्हें सोचने पर विवश किया कि उन्हें इतना दुःख क्यों है, कि दुःख का मूल कारण क्या है। अत्यधिक चिन्तन के पश्चात् वह इस परिणाम पर पहुँचे कि दुःख का मूल कारण है अहम्मन्यता

१. लेख 'जैनेन्द्रकुमार की मौत पर'—पुस्तक 'ये और वे' लेखक जैनेन्द्रकुमार पृष्ठ १५२।

२. लेख 'जैनेन्द्रकुमार की मौत पर'—पुस्तक 'ये और वे'—लेखक—जैनेन्द्रकुमार पृ० १५३।

३. उनका विद्यार्थी-जीवन इस बात का साक्षी है।

और ईश्वर के प्रति समर्पण का अभाव और इसका एकमात्र उपचार है समस्त चराचर के प्रति प्रेम, अहिंसा व समर्पण की वृत्ति। इस प्रकार के मौलिक प्रश्नों के चिन्तन ने उनकी प्रतिमा को प्रखर संपुष्ट किया है। स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' के ये शब्द कितने सार्थक हैं, "वेदना में एक शक्ति है जो दृष्टि देती है। जो यातना में है वह द्रष्टा हो सकता है।" जीवन और उसके विभिन्न पहलुओं के प्रति जैनेन्द्र ने जो अद्भुत दृष्टि पायी है (जिसे हम प्रतिमा अथवा 'जीनियस' कहते हैं), वह वस्तुतः अपनी यातनाओं में से ही पायी है। फिर इसमें आश्चर्य क्या, यदि जैनेन्द्र यह कहते हैं कि उनके शब्द और उनके विचार वेदना में से ही आते हैं अथवा जन्म लेते हैं? इस समस्त प्रक्रिया को जैनेन्द्र ने इन शब्दों में बाँधा है—"मैंने अपने सम्बन्ध में पाया है कि जब-जब चीज को स्पर्द्धा-पूर्वक मैंने अधिकृत कर लेना चाहा है, तभी-तब मेरी दरिद्रता ही मुझे हाथ लगी है और जितना मैंने अपने को किसी के प्रति खोल कर रिता दिया है, उतना ही परस्पर के बीच का अन्तर दूर हुआ है और एकता प्राप्त हुई है। ऐक्य-बोध ही सबसे बड़ा ज्ञान-लाभ है और तब से मैंने जाना है कि आत्मार्पण में ही आत्मोपलब्धि है, आग्रहपूर्ण संग्रह में कल्याण नहीं है।"[1]

किन्तु जैनेन्द्र का यह अनुभव, (जिसके मूल में निश्चय ही राग-वृत्ति है) सर्वथा आत्मसात् नहीं हो सका है क्योंकि उनकी अहवृत्ति उनकी प्रखर मेधा और स्वप्नाकांक्षाओं के सहयोग के कारण नियमित नहीं हो पाती। परिणाम यह कि दोनों वृत्तियों में संघर्ष होता रहता है।

वस्तुतः अहंकार का नाश नहीं किया जा सकता। उसको गलाया या घुलाया ही जा सकता है अर्थात् अहंकार को अन्तर्मुखी करना पड़ता है। इस अन्तर्मुखीकरण से तात्पर्य यह है कि अहंकार को अपनी निजता मिटा कर दूसरों के अहंकार से उसका तादात्म्य करना पड़ता है जिससे कि बाह्य जगत में किसी से भी उसकी रगड़ न हो। आत्म-व्यथा इस तादात्म्य का साधन है। इस प्रक्रिया को अहंकार का उन्नयन भी कह सकते हैं जो अपने आप में एक साधना है। किन्तु इस साधना में अहंकार का नाश नहीं होता, केवल उसकी तुष्टि का माध्यम परिणत हो जाता है। इस प्रक्रिया का एक मात्र निमित्त है—अधिकाधिक आत्मसुख की प्राप्ति की चेष्टा।[2] गाँधी जी ने भी सचेतनतः अथवा अचेतनतः इसी मार्ग का आश्रय लिया था। अफ्रीका में स्थानीय

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' पृ० ११२।

२. हम नहीं कह सकते कि आत्मसुख के अतिरिक्त इनके द्वारा सत्य अथवा परमात्मा की प्राप्ति होती है।

शासन की भेद-नीति से उनका अहं-भाव आहत हुआ था। किन्तु उन्होंने यह देख कि वही अकेले नहीं हैं, अपितु अनेकानेक भारतीय (अभारतीय भी) ऐसे हैं जिन अवसर-अवसर पर अपमान और तिरस्कार सहना पड़ता है। उन्होंने प्रतिकार क अपनी भावना को अपने समभागियों की भावना में मिला दिया और विरोधी आन्दोल का नेतृत्व किया। भारत में आने पर भी उनकी यही नीति रही क्योंकि दोनों देश की परिस्थितियों में विशेष भेद नहीं था। गाँधी जी ने धीरे-धीरे आध्यात्मिकत (ईश्वर के प्रति समर्पणादि भाव) को इतनी दृढ़ता और व्यापकता से अपना लिय था कि उनका अहंकार फिर कभी अपनी खोई निजता नहीं पा सका। वह तो यह तक कहा करते थे कि उनके जीवन के कार्य-कलाप परहिताय भी नहीं हैं क्योंकि सच्चिदानन्द परमात्मा के लिए हैं। जैनेन्द्र ने भी कुछ ऐसी ही बात कला के सम्बन में कही है कि कला कला के लिए नहीं, परमात्मा के लिए होनी चाहिए। किन् जैनेन्द्र में अहंकार का पूर्ण उन्नयन नहीं हो सका है क्योंकि उन्होंने उसे अन्तर्मुखी मह किया है अर्थात् उनका दूसरों के अहंकार से तादात्म्य नहीं हुआ है। सफलता वे लिए इस तादात्म्य का सक्रिय होना अपेक्षित है। किन्तु जैनेन्द्र ने अपने सीमित दाय में से समष्टि की ओर क़दम बढ़ाया ही नहीं है। यही कारण है कि वह अभी तक संघर्ष की ही अवस्था में हैं। यद्यपि उनमें समर्पण की भावना अहंकार से अधि बलवती है किन्तु विपद पर सम्पूर्ण अभिभाव के लिए उन्हें अपने अहंकार की निजत भुलानी होगी। जब तक ऐसा नहीं है, वह पूरे 'संत' नहीं बन पायेंगे। यहाँ हमें य भय है कि संत बन जाने पर वह सम्भवतः साहित्य के क्षेत्र से ऊपर हो जायेंगे उ साहित्य की दृष्टि से लाभकारी नहीं होगा।

सतत चल रहे अन्तःसंघर्ष का जैनेन्द्र के बाह्य जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उनके व्यक्तित्व के कर्म-पक्ष और भाव-पक्ष दोनों ही दुर्बल पड़ गये हैं। कर्तृत्व शक्ति अहंकार का विस्फोट होती है। किन्तु अहंवृत्ति जैनेन्द्र में मुक्त न होकर उन में निरत है, साथ ही दूसरे या दूसरों के लिए भी उन्होंने जीना आरम्भ नहीं किय है। अतः जैनेन्द्र में कर्मठता देखने में नहीं आती। दूसरी ओर भाव-पक्ष इसलि दुर्बल है कि क्रोध, घृणा आदि भाव जो अहंकार के आहत होने से उत्पन्न होते हैं उत्सर्ग की भावना के सतत प्रभाव में मन्द पड़ जाते हैं, इसलिए भी कि जैनेन्द्र का ध्यान एक पर केन्द्रित होने के स्थान पर वितरित और विकेन्द्रित होने की चेष्टा में अपनी प्रखरता खो चुका है वास्तव में जैनेन्द्र में यह अन्तर्द्वन्द्व इतना प्रबल हो गया है कि उनका व्यक्तित्व दोनों वृत्तियों के पृथक्-पृथक् प्रभाव में विभाजित-सा लगत है। इस "द्वित्व' के कारण ही अनेक व्यक्ति उन्हें प्रवंचक मान बैठे हैं, यद्यपि इ

'हिन्द' के युग में, कहीं अधिक गहरे में (या उसका हेतु ही ये प्रभाव?), बंधन-मुक्त है। यहीं संक्षेप में वे तत्त्व हैं जिनसे जैनेन्द्र के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ।

(३) जैनेन्द्र साहित्य

(सूची)

उपन्यास

१. परख—प्रकाशन वर्ष १९२९। प्रारम्भ में इसके साथ 'स्पर्द्धा' कहानी संयुक्त थी और इसका नाम था 'परख-स्पर्द्धा'।' अब 'स्पर्द्धा' को जैनेन्द्र के कहानी-संग्रह में स्थान दिया है। 'परख' का तेलुगु और गुजराती में अनुवाद हो चुका है। तमिल में भी अनुवाद हो चुका है किन्तु अभी तक अप्रकाशित है।

२. तपोभूमि—प्रकाशन-काल १९३२। यह उपन्यास जैनेन्द्र कुमार और ऋषभचरण जैन द्वारा सम्मिलित रूप में लिखा गया था। किन्तु जैनेन्द्र का कहना है कि उनका अंश नितान्त नगण्य है। वह आज 'तपोभूमि' की गणना भी अपने साहित्य में नहीं करते। 'तपोभूमि' आजकल अनुपलब्ध है।

३. सुनीता—रचना-काल '३४ और प्रकाशन '३५। गुजराती की एक पत्रिका में यह धारावाहिक के रूप में अनूदित हो चुका है। प्रारम्भ में दो-तिहाई अंश 'चित्रपट' में प्रकाशित हुआ था।

४. त्याग-पत्र—रचना-काल '३६ एवं प्रकाशन '३७। तमिल, तेलुगु, गुजराती, मराठी, बँगला (अप्रकाशित), अरबी, अँग्रेज़ी तथा जर्मनी में 'त्याग-पत्र' का अनुवाद हो चुका है।

५. कल्याणी—रचना '३८ और प्रकाशन '३९। केवल तमिल में अनुवाद हुआ है।

६. सुखदा—रचना लगभग १५-१६ वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो गई थी किन्तु अनेक कारणों से '५२ तक असमाप्त था। अब भी इसका दूसरा भाग लिखा जाना शेष है। पहले पहल १९५२ 'धर्मयुग' साप्ताहिक पत्रिका में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। गुजराती व मराठी में अनुवाद हो चुका है किन्तु अप्रकाशित है।

७. विवर्त—प्रकाशन १९५२। पहले-पहल साप्ताहिक हिन्दुस्तान में। गुजराती एवं मराठी में अनुवाद हो चुका है।

८. *व्यतीत—प्रकाशन, १९५३। आकाशवाणी, दिल्ली केन्द्र से 'नाटक' के रूप में खेले जाने के लिये लिखा गया। 'व्यतीत' का अंग्रेजी में अनुवाद हो रहा है।...

*'अनाम' 'एक प्रश्न', तथा 'राजकुमार का देशाटन' आज लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष पूर्व लिखे जाने प्रारम्भ हुए थे किन्तु अभी तक अधूरे हैं। अन्तिम दो उपन्यासों के कुछ अंश 'हंस' पत्रिका में प्रकाशित भी किए गए थे।

इसके अतिरिक्त 'दशांक' और 'जयवर्धन' उपन्यासों की घोषणा जैनेन्द्र ने अभी हाल में ही 'प्रकाशन समाचार' में की है। 'दशांक' में दस कहानियाँ उपन्यास के ढग पर अनुस्यूत होंगी जिनमें धन की बढ़ती हुई आज की महत्ता पर व्यंग्य होगे। 'जयवर्धन' में भावी इतिहास की कल्पना की योजना है।

कहानियां

"जैनेन्द्र की कहानियाँ" नाम से पूर्वोदय प्रकाशन से जैनेन्द्र की कहानियों के सात संग्रह इसी वर्ष निकले हैं। इससे पूर्व 'फाँसी' ('२९), 'वातायन' ('३०), 'नीलम देश की राज कन्या', ('३३), 'एकरात' ('३४), 'दो चिड़ियाँ' ('३५), 'पाजेब' ('४८) और 'जयसंधि' (४९)—इन सात नामों से जैनेंद्र के कहानी-संग्रह बाजार में थे।

निबंध-संग्रह

१. जैनेन्द्र के विचार—सं० प्रभाकर माचवे ('३४,
२. प्रस्तुत प्रश्न—सन् '३६।
३. जड़ की बात—सन् '४५।
४. पूर्वोदय—सन् '५१।
५. साहित्य का श्रेय और प्रेय—सन् '५३।
६. मंथन—सन् '५३।
७. सोच विचार—सन् '५३।
८. काम, प्रेम और परिवार—सन् '५३
९. ये और वे—सन् '५४।

अनुवाद

१. मन्दाकिनी (नाटक)—मूल लेखक : मेटरलिंक। अनुवाद सन् '२७ में और प्रकाशन सन् '३५ में हुआ।
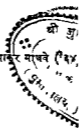
२. प्रेम में भगवान (कहानियाँ)—मूल लेखक टॉल्सटॉय, प्रकाशन-वर्ष सन् '३७

३. पाप और प्रकाश (नाटक)—मूल लेखक, टॉल्सटॉय, अनुवाद सन् '३७ में और प्रकाशन सन् '५३ में।

४. अलेक्जेण्डर कुप्रिन के 'यामा द पिट' के अनुवाद की योजना है।

सम्पादित ग्रन्थ

१. साहित्य-चयन (निबंध-संग्रह)—'५१।

२. विचार-वल्लरी (निबंध-संग्रह)—'५२।

दूसरा अध्याय

उपन्यास का क्रिया-कल्प और हिन्दी उपन्यास की रूपरेखा

(अ) उपन्यास नामक साहित्यिक विधा का परिचय

(क) 'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति और उसका प्रचलन

'उपन्यास' शब्द संस्कृत की 'अस्' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है—'रखना' (असुक्षेपणे)। इसमें 'उप्' और 'नि' उपसर्ग हैं और 'घञ्' प्रत्यय का प्रयोग है। 'उपन्यास' का मुख्यार्थ है—सम्यक् रूप से 'उपस्थापन'। किन्तु बाद में अनेक लाक्षणिक अर्थ भी इस शब्द ने ग्रहण किए।

सर मोनियर-विलियम्स ने अपने संस्कृत-अंग्रेज़ी शब्द-कोष में 'उपन्यास' के कुछ अर्थ इस प्रकार दिए हैं—उल्लेख (mention), अभिकथन (statement), सम्मति (suggestion), उद्धरण (Quotation), सन्दर्भ (reference)।

डा॰ मैकडोनल ने अपने शब्द-कोष में 'उपन्यास' के अर्थ किए हैं—विज्ञप्ति (intimation), अभिकथन (statement), उद्घोषणा (declaration), वाद-विवाद (discussion)।

इसके अतिरिक्त संस्कृत नाट्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में 'उपन्यास' रूपक की प्रतिमुख संधि के एक उपभेद की संज्ञा है। इस संदर्भ में उसका अर्थ 'प्रसादन' का लिया गया है।[1] इसकी दूसरी व्याख्या भी है जिसके अनुसार 'अर्थ को युक्तियुक्त रूप में उपस्थित करना ही उपन्यास है।'[2]

स्पष्ट है कि यद्यपि 'उपन्यास' शब्द संस्कृत-वाङ्मय में प्रचुरता से प्रयुक्त होता था, किन्तु फिर भी इस शब्द से वह अर्थ ग्रहण नहीं किया जाता था, जो प्राय: आजकल हम लेते हैं—अर्थात् गद्यबद्ध पर्याप्त लंबी कथा। यह अर्थ इस शब्द का सर्वथा नूतन अर्थ है जो आधुनिक युग में प्राप्त हुआ है। और यही अर्थ आज इसका प्रधान तथा अधिकतम प्रचलित अर्थ भी है।

---

१. 'उपन्यासः प्रसादनम्'।

२. 'उपपत्तिकृतो ह्यर्थं उपन्यासः संकीर्तितः'।

'उपन्यास' शब्द का कथा के अर्थ में सब से पहला प्रयोग बँगला में मिलता है। सन् १८५६-५७ में एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका नाम था—'ऐतिहासिक उपन्यास,' लेखक थे—भूदेव मुखोपाध्याय । बँगला-साहित्य के इतिहासकारों ने इसे ही बँगला का प्रथम उपन्यास माना है। सन् १८६१ में एक और कृति प्रकाशित हुई जिसका नाम था 'अद्भुत उपन्यास', इसके लेखक रामहृदय भट्टाचार्य थे। यद्यपि यह बँगला का दूसरा उपन्यास नहीं, था ('अलालेर घरेर दुलार' नाम की इस प्रकार की कम से कम एक और रचना प्रकाशित हो चुकी थी), फिर भी इससे यह तो पता चलता ही है सन् १८६१ तक 'उपन्यास' शब्द इतना तो चल ही चुका था कि अन्य लेखकों द्वारा भी इसका नवीन अर्थ में प्रयोग हो सके। 'उपन्यास' शब्द से पूर्व कथा, कहानी, आख्यान, उपकथा, उपाख्यान आदि ही शब्द बँगला में प्रचलित थे। यह तो निश्चित है कि उस समय तक बँगला के लेखक अंग्रेजी से प्राप्त साहित्य की एक सर्वथा नवीन विधा 'नाविल' से पर्याप्त परिचित हो चुके थे। सन् १८७६ में प्रकाशित एक पुस्तक में भूदेव मुखोपाध्याय ने एक स्थल पर लिखा है कि मैंने लगभग बीस वर्ष पूर्व अंग्रेज़ी के 'नाविल' के अनुकरण पर एक कथा बँगला में लिखी थी। स्पष्ट है कि संकेत 'ऐतिहासिक उपन्यास' नाम की रचना की ओर ही है। वस्तुतः इस पुस्तक में एक कथा नहीं अपितु 'अंगरि विनिमय' और 'सफल स्वप्न' नामक दो कथाएँ संकलित हैं। यद्यपि 'उपन्यास' की आज की परिभाषा के अनुसार इन कथाओं में औपन्यासिक तत्त्व शून्य के बराबर ही हैं, फिर भी चूँकि लेखक ने 'नाविल' के ढंग पर इसे लिखने का दावा किया है, इसमें सन्देह ही नहीं हो सकता कि कृति के नाम में 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग 'नाविल' के अर्थ में ही किया गया है। यह नहीं कहा जा सकता कि स्वयं भूदेव मुखोपाध्याय ने ही पहले से प्रचलित 'उपन्यास' शब्द को यह नवीन अर्थ दिया था या उनसे पूर्व भी इस का इस आधुनिक अर्थ में प्रयोग होता रहा था क्योंकि सन् १८५६-५७ की इस घटना से पूर्व 'नाविल' के अर्थ में 'उपन्यास' शब्द का उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। समुचित सामग्री के अभाव में यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'उपन्यास' को एक नवीन अर्थ-च्छाया प्रदान करने के बदले स्वयं 'आख्यान', 'आख्यायिका' आदि परम्परागत शब्दों के अर्थ का ही विस्तार क्यों न कर दिया गया।

जहाँ तक पत्र-पत्रिकाओं का प्रश्न है, 'बंगदर्शन' नामक बँगला पत्रिका में 'उपन्यास' का सबसे पहला प्रयोग कदाचित् सन् १८६४ में हुआ था।

बंकिम के युग (१८७२-६३) में तो, जो बँगला साहित्य का निर्माण-युग भी कहलाता है, 'उपन्यास' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रचलन सर्व-साधारण में हो गया था।

हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द का सबसे पहला प्रयोग शायद सन् १८७१ में—एक कथा-पुस्तक के नामकरण में ही—'मनोहर उपन्यास' में हुआ था। डा० माता-प्रसाद गुप्त हिन्दी के आरम्भिक उपन्यासों की सूची में इसे शीर्ष स्थान देते हैं।[1] आचार्य शुक्ल, आचार्य द्विवेदी, डा० वार्ष्णेय आदि प्रमुख इतिहासकारों ने इस कृति का उल्लेख भी नहीं किया है। 'मनोहर उपन्यास' के लेखक के नाम से हम अपरिचित हैं। यद्यपि सदानन्द मिश्र और शम्भुनाथ मिश्र के नाम से इसके दो सम्पादकों का उल्लेख मिलता है। डा० गुप्त के मत में 'मनोहर उपन्यास' किसी इतर भाषा की कृति का अनुवाद नहीं है। किन्तु क्या वास्तव में यह अनुवाद नहीं है, इसका लेखक कौन है, इसकी वस्तु क्या है, इसमें उपन्यास के तत्त्व किस सीमा तक है—आदि प्रश्नों के समाधान के लिये विस्तृत शोध की अपेक्षा है। परन्तु इस प्रसंग में इतना जान लेना पर्याप्त है कि सन् १८७१ में हिन्दी में 'उपन्यास' का सबसे पहला उपलब्ध प्रयोग है।

कुछ लोगों का मत है कि 'उपन्यास' शब्द का आधुनिक अर्थ में प्रचलन मराठी से आरम्भ हुआ किन्तु यह मत अग्राह्य है क्योंकि स्वयं मराठी में 'उपन्यास' के लिए 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रचलन के पीछे यह मान्यता रही होगी कि संस्कृत का प्रसिद्ध गद्य-काव्य 'कादम्बरी' पश्चिम के novel से मिलती-जुलती चीज है। क्रमशः 'कादम्बरी' शब्द का प्रयोग आधुनिक उपन्यास के अर्थ में रूढ़ हो गया।

गुजराती में 'उपन्यास' के लिए 'नवल कथा' शब्द प्रचलित है। यह प्रचलन novel के प्रभाव में ही हुआ। 'नवल' का प्रयोग ध्वनि-साम्य के कारण हुआ। किन्तु चूँकि novel में 'नवल' और 'कथा' दोनों का अर्थ सम्मिलित है और 'नवल' में ऐसा नहीं है, अतः 'नवल' के साथ 'कथा' शब्द संयुक्त किया गया और शब्द बना 'नवल कथा'।

दक्षिणी भाषा तमिल में 'उपन्यास' का प्रयोग आज भी प्रायः होता है किन्तु आधुनिक अर्थ में नहीं। वहाँ इस का अभिप्राय होता है 'व्याख्या' का और यह अर्थ मैकडॉनल के अर्थ 'अभिकथन', 'वाद-विवाद' आदि से अधिक दूर नहीं है।

अंग्रेजी शब्द नाविल (novel) लेटिन के विशेषण novella, इतालियन और स्पेनिश शब्द novella, एवं फ्रांसीसी शब्द novelle से ग्रहण किया गया है।[2]

---

१. द्रष्टव्य—'हिन्दी पुस्तक साहित्य'—डा० माताप्रसाद गुप्त पृ० २६।

2. The Encyclopedia Amaricana Vol. 20 pp. 467

पुनरुत्थान-युग के प्रारम्भ काल से अपने विभिन्न रूपों में इस शब्द का प्रयोग एक काल्पनिक लघु-कथा के अर्थ में पश्चिमी यूरोप की अधिकतर भाषाओं में होता था। इन लघु-कथाओं में साधारण जीवन की घटनाओं व रहस्यों का वर्णन मुख्यतः (अनिवार्यतः नहीं) गद्य में किया जाता था। सोलहवीं शती में इंगलैंड में भी इस का प्रयोग इतालियन लघु कथाओं के अनुवादों के साथ-साथ किया जाने लगा। किन्तु अगली शताब्दी में इन कथाओं का आकार विस्तृत हो गया, यद्यपि novel शब्द का प्रयोग इन दीर्घ कथाओं के लिए भी होता रहा।

(ख) उपन्यास की परिभाषा

जिस प्रकार 'साहित्य' अथवा 'कविता' को परिभाषित करने के अनेक प्रयत्न देश-विदेश में सदा से किए गए हैं किन्तु कोई भी एक परिभाषा सम्पूर्णतः स्वीकृत नहीं हुई है, उसी प्रकार 'उपन्यास' की भी अनेक परिभाषाएँ विभिन्न विद्वानों ने दी हैं किन्तु कोई भी एक परिभाषा उपन्यास के सब अंगों और सब पहलुओं को सीमाबद्ध नहीं करती। यहाँ देश-विदेश के विद्वानों की कुछ परिभाषाओं पर विचार किया जाता है।

"उपन्यास मनुष्य के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा है।"

डा० श्यामसुन्दर दास की इस परिभाषा की अपनी कुछ सीमाएँ हैं। क्या उपन्यास केवल वास्तविक जीवन की ही कथा है? अनेकानेक उपन्यास इस बात के साक्षी हैं कि उपन्यास का वास्तविक जीवन से सीधा संबंध नहीं भी हो सकता है। अनेक तिलस्मी, जासूसी आदि रोमानी उपन्यास इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। 'काल्पनिक' शब्द भी सीमा को सकुचित करता है।

उपन्यासकार प्रेमचन्द ने उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार की है:—

"मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।'

उपर्युक्त परिभाषा में चरित्र-प्रधान उपन्यास को ही दृष्टि में रखा गया है। स्पष्ट है कि उपन्यास नामक साहित्यिक विधा के एक अंग अथवा प्रकार-विशेष को ही महत्त्व दिया गया है जो इस विधा के साथ सर्वथा अन्याय है।

'न्यू इंग्लिश डिक्शनरी' में उपन्यास को परिभाषा की सीमा में बाँधने का प्रयास इस प्रकार किया गया है:

"उपन्यास एक काल्पनिक गद्य-कथा अथवा इतिवृत्त है जो पर्याप्त दीर्घ होता है और जिसके कथानक में उन चरित्रों और कार्य व्यापारों का चित्रण होता है जो वास्तविक जीवन के चरित्रों और कार्य-व्यापारों को निरूपित करने का प्रयास करते हैं।"[1]

इस परिभाषा में उपन्यास की भाषा और आकार की ओर किए गए संकेत मान्य हैं किन्तु उपन्यास की विषय-वस्तु की सीमा संकीर्ण है।

"उपन्यास अपनी व्यापकतम परिभाषा में जीवन का वैयक्तिक और प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब है।"[2]

हेनरी जेम्स की इस परिभाषा से ही कुछ मिलती-जुलती परिभाषा डा० हर्बर्ट जे० मुलर की है। डा० मुलर के शब्द इस प्रकार हैं :—

"उपन्यास मूलतः मानवीय अनुभव का निरूपण है, चाहे वह यथार्थ हो अथवा आदर्श। और इस प्रकार उपन्यास में अनिवार्यतः जीवन की आलोचना रहती है।"[3]

हेनरी जेम्स और डा० मुलर—दोनों समीक्षकों ने उपन्यास में जीवन के निरूपण को अनिवार्य माना है। जहाँ हेनरी जेम्स की परिभाषा में उपन्यासकार की वैयक्तिकता पर बल दिया गया है, वहाँ डा० मुलर ने यथार्थ और आदर्श के रूप में औपन्यासिक विषय के दो विभाजन किये हैं और साथ ही जीवनालोचना के तत्त्व को भी उपन्यास में आवश्यक माना है।

वस्तुतः उपर्युक्त सभी परिभाषाएँ अल्पव्याप्ति के दोष से मुक्त नहीं हैं। आज उपन्यास जीवन की परोक्ष-अपरोक्ष अभिव्यक्ति का सबलतम माध्यम है। वह जीवन

---

1. "A fictitious prose or tale or narrative of considerable length, in which characters and actions professing to represent those of real life, are portrayed in a plot."
2. "A novel is, in its broadest definition a personal, a direct impression of life."
3. "The novel is typically a representation of human experience whether liberal or ideal and therefore inevitably a comment upon life."

की व्यापकता और समग्रता को छू रहा है। उपन्यास की धारा उतनी ही प्रशस्त और विस्तृत है जितनी कि जीवन की धारा। उपन्यास को इस व्यापकता का कुछ शब्दों में परिसीमन असम्भव-प्राय: है।

अधिक से अधिक उपन्यास के विभिन्न प्रकारों को दृष्टि में रखते हुए उपन्यास की विभिन्न परिभाषाएँ ही दी जा सकती हैं (यदि उन्हें परिभाषा कहा जा सके)।

(ग) उपन्यास के उपकरण

हिन्दी में जब उपन्यास-कला का विवेचन किया जाता है तो साधारणतः उपन्यास के निम्नलिखित सात उपकरण गिना दिये जाते हैं :—

किन्तु अधुनातन उपन्यास में ये सभी उपादान आवश्यक अथवा अनिवार्य नहीं माने जाते। पर यह निश्चित है कि किसी उपन्यास के उपकरणों की संख्या इनसे अधिक नहीं हो सकती।

(१) कथा-वस्तु

कथा-वस्तु अथवा कथानक घटनाओं एवं वृत्तों की संयोजना को कहते हैं। किन्तु आज विश्व-साहित्य में अनेक उपन्यास ऐसे हैं जिनमें घटनाएँ अथवा वृत्त अपने साधारण स्थूल अर्थ में सर्वथा अवर्तमान हैं। भावों, विचारों और संवेदनाओं को भी आज उपन्यास के विषय-वस्तु के रूप में पर्याप्त समझा जाता है। अतः कथा-वस्तु का स्वरूप क्या हो ?—यह आज अत्यन्त अनिश्चित है।

कथानक का चुनाव जीवन के किसी भी क्षेत्र, किसी भी पहलू से हो सकता है। उसका जीवन के साथ सम्बन्ध सीधा और प्रत्यक्ष ही नहीं, परोक्ष भी हो सकता है। अवचेतना के गहन रहस्यमय गह्वरों के उद्घाटन से तिलस्मी वर्णन तक कुछ भी उपन्यास का विषय स्वीकार्य है। उपन्यास का विषय अफ्रीका के जंगलों का भ्रमण भी हो सकता है, यौन-विकारों का चित्रण भी और मंगल ग्रह की यात्रा भी। सत्य यह है कि मानव की कल्पना और वस्तु-निरीक्षण के क्षेत्र में से कोई भी विषय उपन्यास की कथा-वस्तु के योग्य हो सकता है। वस्तुतः ज्ञान और अनुभव का कोई भी खण्ड अनुपयुक्त अथवा हीन विषय नहीं होता। कलाकार की कला ही उसके औचित्य एवं गुण का निर्णय करती है। फिर भी आज जिस बात पर विशेष बल दिया जाता है वह यह है कि उपन्यास की विषय-वस्तु का मानव से सीधा सम्बन्ध होना चाहिए।

कथानक में आदर्शवाद का कोई बन्धन नहीं है। उपन्यास-कला का विवेचन करते हुए अनेक समीक्षकों का कथन है कि उपन्यासकार को कुछ आदर्शों की स्थापना अपने उपन्यास में करनी चाहिए। किन्तु आदर्शों का उपस्थापन उपन्यास का आवश्यक तत्त्व नहीं है। उपन्यास में जीवन का यथार्थ चित्रण भी हो सकता है। पश्चिम में तो प्रकृतवाद (naturalism) को लेकर अनेक विख्यात औपन्यासिक कृतियों का निर्माण हुआ है। प्रकृतवाद यथार्थवाद का ही घोरतर रूप है। उपन्यास में रंगीन कल्पना के सहाय्य से रोमानी वातावरण की भी सृष्टि की जा सकती है जिसका वस्तु-जगत से किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो।

रोचकता और सरसता उपन्यास के कथानक के लिए वांछित गुण समझे जाते हैं। किन्तु आज रोचकता और सरसता की दृष्टियों में क्रान्ति आ चुकी है। मार्सेल प्रूस्ट, जेम्स जॉयस अथवा जार्ज गिसिंग के उपन्यास साधारण पाठक को चाहे अरुचिकर और नीरस लगें, किन्तु उपन्यास-साहित्य के इतिहास में ये नाम अमिट हैं। किन्तु फिर भी साधारण पाठक की दृष्टि से रोचकता और सरसता आवश्यक तत्त्व हैं इनके अभाव में वह उपन्यास को अधूरा ही छोड़ने के लिए विवश होगा। रोचकता का समावेश घटना और शैली दोनों में ही अनेक प्रकार से हो सकता है। नवीन रहस्यों के उद्घाटन से तथा आकस्मिक और अप्रत्याशित को स्थान देने से कथानक में रोचकता की उद्भावना की जा सकती है। दूसरी ओर औत्सुक्य की स्थिरता और सजीवता, घटनाओं के क्रम-विशेष और कथा के उपस्थापन की पद्धति पर भी निर्भर करती है।

घटनाओं की विश्वसनीयता और सम्भाव्यता की भी अपेक्षा कथानक में रहती है। इस दृष्टि से घटना घटने में अलौकिकता अथवा असम्भाव्यता का परिहार अभीष्ट है। किन्तु कुछ प्रकार के उपन्यासों में विस्मय और अद्भुत भावों की उद्बुद्धि के लिए लोकातीत तथा असम्भव घटनाओं का प्रवेश ईप्सणीय रहता है। इसके अतिरिक्त अनेक लौकिक घटनाएँ इतनी विचित्र और आश्चर्यजनक होती हैं कि उन पर विश्वास नहीं होता। इसीलिए कहा भी गया है कि 'जीवन गल्प से भी अधिक विचित्र होता है।' वास्तविकता यह है कि काफ़ी सीमा तक यह निर्धारित करना कठिन है कि अमुक घटना सम्भव है या असम्भव। परन्तु साधारण वस्तु-जगत से सम्बन्धित कृतियों में अलौकिकता का समावेश तभी होना चाहिए जब कि स्वयं कथा में इसका भार वहन करने की शक्ति हो। साधारणतः कार्य-कारण की शृंखला अटूट और अखण्ड रहनी चाहिए।

घटनाओं का सुसंगठन, प्रगाढ़ निबन्धन, एकतानता, प्रखरता आदि गु
वांछनीय हो सकते हैं, यद्यपि अनेक उच्च कोटि के उपन्यास इनसे शून्य भी
जीवन के यथानुरूप कथानक के निर्माण की प्रवृत्ति आज बलवती हो गई है।
जीवन की गति में प्रायः संगठितता, एकतानता, अथवा एकध्येयोन्मुखता, प्र
प्रखरता आदि का अभाव रहता है, अतएव इनका महत्व उपन्यास में भी स
माना जाने लगा है।

उपन्यास में विषय की मौलिकता की भी अपेक्षा रहती है। कथानक
नवीनता सदा आकर्षण का विषय है। आज जब कि विश्व में उपन्यास साहित्य
अजस्र धारा प्रवाहित है, मौलिकता प्रायः प्रतिभाशाली कलाकारों की ही निधि
गई है। अधिकांश मौलिकता दृष्टिकोण की नवीनता पर निर्भर करती है।
दृष्टिकोण की नवीनता सशक्त व्यक्तित्व की वैयक्तिकता पर। इसके अभाव में,
से कम, कथा-निबन्धन (story treatment) में तो कृतिकार का अद्वितीय व्यक्ति
प्रस्फुटित होना ही चाहिए। कथा के उपस्थापन की अनेक पद्धतियों का वि
उपन्यास के विकास-काल में सदा होता रहा है। आज तक की प्रमुख उद्भावनाएँ
प्रकार हैं :—

(१) पत्रों के आदान-प्रदान द्वारा। अंग्रेजी उपन्यास-साहित्य के इतिह
के सच्चे अर्थों में प्रथम उपन्यासकार रिचर्डसन ने अपना श्रेष्ठ उपन्यास 'पमेः
पत्र-विधि में ही लिखा था। रिचर्डसन पूर्वार्द्ध अठारहवीं शती के लेखक थे। हि
में बेचन शर्मा 'उग्र' का 'हसीनों के खतूत' नामक उपन्यास इसी पद्धति का ए
निदर्शन है। इस पद्धति में लेखक की ओर से वर्णन या विवरण नहीं रहता है
कथा का प्रवाह और घटनाओं का क्रम विभिन्न पात्रों के पारस्परिक पत्र-व्यवहा
से चलता और खुलता है। अपनी सीमाओं के कारण ही आज इस पद्धति का प्रचल
नहीं है। केवल आंशिक रूप में इस को व्यवहृत किया जाता है।

(२) दैनन्दिनी (Diary) के रूप में। इसमें उपन्यासकार दिनांक वे
अनुसार लगभग प्रतिदिन की घटनाओं का वर्णन क्रम से करता है। इस प्रकार वे
उपन्यास स्वभावतः ही आत्मकथात्मक होते हैं क्योंकि दैनन्दिनी का लिखने वाला को
न कोई पात्र ही होता है, जिसकी दृष्टि से कथा कही जाती है।

(३) इतिहासकार की भाँति 'सर्वज्ञ' होकर लेखक द्वारा। इस प्रणाली
में उपन्यासकार स्वयं सब प्रकार के वर्णन और विवरण देता है। वस्तुजगत-चित्रण,

चरित्रांकन और वृत्त-विवरण सभी रचनाकार के प्राधीन रहता है। यह पद्धति अपनी अपेक्षाकृत सरलता के कारण सर्वाधिक प्रयुक्त होती है। प्रेमचन्द के सभी उपन्यास इसी पद्धति में लिखे गये हैं।

(४) आत्म-कथात्मक पद्धति : इसमें एक या अनेक पात्र अपनी कथा अथवा कथाश उत्तम पुरुष में स्वय प्रस्तुत करते हैं, लेखक अपनी ओर से कुछ नही कहता है। इसमें पूर्वदीप्ति (Flash-back) का प्रयोग भी प्रायः किया जाता है। जैनेन्द्र के 'सुखदा', 'व्यतीत', व अज्ञेय के 'शेखर—एक जीवनी' में एक-एक पात्र आत्म-कथा कहता चलता है। इनमें पूर्वदीप्ति का भी लाभ उठाया गया है। जबकि दूसरी ओर इलाचन्द्र जोशी के 'पर्दे की रानी' और अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' उपन्यासों में अनेक पात्र अपने-अपने कथांशों का विवरण देते हैं। 'पर्दे की रानी' में पूर्वदीप्ति का प्रयोग नही किया गया है। आजकल यह पद्धति लेखकों में स्पृहणीय होती जा रही है।

(५) चेतना-प्रवाह पद्धति (Technique of "stream of conciousness) : हिन्दी उपन्यासों में यह पद्धति अभी तक अव्यवहृत है। चेतन मन की सूक्ष्म स्थितियों, भावों व संवेदनाओं को सफलता-पूर्वक शब्दबद्ध करने के प्रयास में यह पद्धति उद्भावित हुई क्योंकि अब तक की पद्धतियों द्वारा मनोभूमि पर, अर्थात् मानव-चेतना पर वस्तुजगत के विभिन्न उद्दीपनों (stimulii) से उत्पन्न सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतिक्रियाओं को पकड़ने और लिपिबद्ध करने में लेखकों ने अपने आपको अक्षम पाया। वास्तव में मूलतः यह पद्धति यथार्थ को और भी अधिक दृढ़ता और गहराई से पकड़ने के आग्रह का परिणाम थी। जेम्स जॉयस के 'उलीसस' और वर्जीनिया वुल्फ के 'मिसेज डालोवाई', 'द लाइट हाउस' आदि उपन्यास इस पद्धति के श्रेष्ठ उदाहरण है।

(६) असम्बद्ध घटनाओं द्वारा : जब उपन्यासकार अपनी कृति में समस्त देश को अथवा विश्व की चेतना को व्यक्त करना चाहता है तो असम्बद्ध घटनाओं द्वारा इस ओर प्रयास करता है। ये घटनाएँ असम्बद्ध इस दृष्टि से होती है कि ये एक या कुछ पात्रों के जीवन-खण्ड का निरूपण नही करती अपितु समाज के भिन्न भिन्न सर्वथा असम्बन्धित क्षेत्रों से विभिन्न व्यक्तियों के जीवन की छोटी-छोटी झाँकियाँ प्रस्तुत करती हैं। किन्तु ये झाँकियाँ एक ही उद्देश्य के सूत्र में अनुस्यूत होती हैं। लब्ध-प्रतिष्ठ फ्रेंच उपन्यासकार जियाँ पॉल सार्त्र (Jean-Paul Sartre) के 'द रिपरीव' उपन्यास में इस पद्धति का सफल प्रयोग हुआ है।

(७) समय-विपर्यय (Time shift) पद्धति : इस पद्धति में घटनाओं और वृत्तों को काल-क्रम के अनुसार प्रस्तुत नहीं किया जाता, अपितु घटनाएँ कुछ

ऐसे ढंग से प्रस्तुत की जाती हैं कि उनके काल-क्रम में भेद आ जाता है। पद्धति प्राचीनों द्वारा भी प्रयुक्त हुई है। 'कादम्बरी' में इसका प्रयोग है। आधु हिन्दी उपन्यासों में 'कल्याणी' में इस पद्धति का निदर्शन है।

(१) पात्र

उपन्यास में जिन मनुष्यों की कथा वर्णित की जाती है वे पात्र या च कहलाते हैं। आज उपन्यास में चरित्र-चित्रण को इ अधिक महत्त्व प्राप्त है और इस कला का इतना अ विकास हुआ है कि क्रिया-कल्प की दृष्टि से चरित्र-प्र उपन्यासों की अपनी एक श्रेणी है। इनमें एक या एकाधिक पात्रों के अन्तरंग बहिरंग पर प्रकाश डाला जाता है।

पात्र दो प्रकार के हो सकते हैं :—

(१) जातीय या वैयक्तिक। जातीय अथवा जातिवाचक (Type, Clas पात्रों में समाज के सर्वसाधारण चरित्र का प्रतिबिम्ब प्रधान रहता है। इन पा के कार्य-कलाप विभिन्न परिस्थितियों में सामान्य (normal) ही रहते हैं। इन व्यक्तित्व मुख्यतः अपनी जाति का अथवा समाज का प्रतिनिधित्व करता है। वैय क्तिकता तो इन पात्रों में भी होती है क्योंकि वैयक्तिकता तो प्रत्येक व्यक्तित्व न्यूनाधिक अंश में सन्निहित रहती है और उसका नाश नहीं किया जा सकता। भे इतना ही है कि इन पात्रों में सामान्यतः अर्थात् वर्ग के प्रतिनिधि-गुण अधिक मात्रा में रहते हैं। 'गिरती दीवारें' का चेतन और 'गबन' की जालपा जातीय पात्र हैं। वैयक्तिक पात्रों में अपेक्षाकृत स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास रहता है और इनकी प्रतिक्रियाएँ (responses) साधारण नहीं होतीं हैं। 'व्यतीत' का जयन्त और 'मनुष्य के रूप' की सोमा वैयक्तिक अथवा व्यक्तिवाचक पात्रों के उदाहरण हैं।

(२) स्थिर या गतिशील। स्थिर अथवा अपरिवर्तनशील पात्रों के चरित्र की आकार-रेखाएँ सुस्पष्ट और सुनिश्चित होती हैं। आदि से अन्त तक ये पात्र एक से उद्दीपनों पर एक-सी प्रतिक्रियाएँ करते हैं अर्थात् समान परिस्थितियों में समान आचरण करते हैं। इनकी चारित्रिक विशेषताएँ अपरिवर्तित रहती हैं। दूसरी ओर इसके विपरीत गतिशील पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होती हैं। उनमें परिवर्तन होता रहता है अथवा यूँ कहिए कि इन पात्रों के चरित्र का क्रमिक विकास होता रहता है। परन्तु यह स्मरणीय है कि किसी भी व्यक्ति की मूल प्रकृति में प्रायः आमूल परिवर्तन नहीं होना चाहिए, अन्यथा वह चरित्रांकन

मनःशास्त्र के प्रतिकूल होगा। अभिप्रेत परिवर्तन के लिए स्वयं पात्र के व्यक्तित्व-विधान में आधार सन्निहित रहने आवश्यक हैं।

चरित्रांकन दो विधियों से किया जा सकता है :—

(१) साक्षात् व विश्लेषणात्मक विधि, और

(२) परोक्ष वा सांकेतिक वा नाटकीय विधि।

पहली विधि के अनुसार उपन्यासकार अपने पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का स्वयं उल्लेख करता जाता है और घटनाएँ बाद में उस उल्लेख को पुष्ट कर देती हैं। इस प्रकार के चरित्रांकन में, चूंकि लेखक और पाठक के मध्य में कोई व्यवधान नहीं है, अतः यह विधि साक्षात् विधि कहलाती है और स्वयं लेखक द्वारा दिये गए चरित्र-विश्लेषण के कारण विश्लेषणात्मक।

दूसरी परोक्ष विधि में बिलकुल नाटकीय प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। अर्थात् इस प्रकार के उपन्यास में चरित्र-चित्रण केवल घटनाओं के प्रस्फुटन एवं कथोपकथन में की गई टीका-टिप्पणी द्वारा किया जाता है। स्पष्ट अंकन न होने और केवल संकेत मात्र दिये जाने के कारण इस विधि को सांकेतिक भी कहते हैं।

आजकल प्रायः दोनों विधियों का सम्मिश्रण ही परिलक्षित होता है, यद्यपि अधिक महत्त्व परोक्ष अर्थात् नाटकीय विधि को ही दिया जाता है।

बीसवीं शती के उच्च कोटि के उपन्यासों के आधुनिक चरित्र-चित्रण और प्राचीन काव्यों तथा नाटकों के चरित्र-चित्रण की शैलियों में अतीव स्थूल भेद दृष्टिगोचर होता है। यह भिन्नता मुख्यतः जटिलता और वैविध्य की है। निश्चय ही विकास का नियम इसके मूल में है। किंतु फिर भी दो और भी प्रधान तत्त्व हैं जिनके अभाव में कदाचित् चरित्रांकन की कला का इतना विकास सम्भव नहीं होता।

विभिन्न विज्ञानों के जन्म और प्रसार ने, विशेषकर मनोविज्ञान के प्रसार और प्रचार ने इस कला की प्रगति में अमूल्य योग दिया है। वस्तु-निष्ठता और यथार्थता का अधिकाधिक विकास और ग्रहण अधिकांशतः विज्ञानों की उत्तरोत्तर उन्नति का ही परिणाम है। प्राचीन साहित्य में चरित्र-निर्माण अनेकानेक परम्पराओं और रूढ़ियों से आबद्ध हो गया था। इन बन्धनों के कारण उसमें कृत्रिमता और निर्जीवता आ गयी थी जो श्रेष्ठ कला के लिए सर्वथा अवांछित तत्त्व थे। विज्ञानों के प्रसार

ने मानव की प्रवृत्ति को यथार्थोन्मुख किया और उसमें वस्तु-निष्ठता को पल्ल
किया। फल यह हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में इस यथार्थता ने साहित्यकारों
साहित्यिक रूढ़ियों और शृंखलाओं से मुक्ति दी और वास्तविकता की ओर प्र
किया। नैतिक दृष्टि में भी विज्ञान के उत्कर्ष ने क्रान्ति उत्पन्न की। पुरातन साहि
में प्रायः सत् और असत् चरित्रों की दो स्पष्ट, भिन्न श्रेणियाँ होती थीं। सदा सत्
विजय दिखाने के लिये असत् (खलनायक) अथवा प्रतिनायक की उद्‌भावना की जा
थी। परन्तु वर्तमान युग में विभिन्न क्षेत्रों में विज्ञान द्वारा की गयी शोधों ने नैति
मानों के प्रति सप्रश्नता और परम्परागत विश्वासों में अश्रद्धा उत्पन्न कर दी है
ईश्वर में मनुष्य की आस्था खण्डित हुई और निरपेक्ष सत्य अथवा निरपेक्ष शि
जैसी कोई चीज नहीं रह गयी। बौद्धिकता ने प्रत्येक प्राचीन मान्यता को संदेह
दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया। सूक्ष्म वैज्ञानिक परीक्षण की प्रवृत्ति ने मान
के मन को ही खँगोल डाला और अवचेतन मन का पता लगाया। इस खोज
स्थूल नैतिकता की नींव पर और भी अधिक शक्ति से कुठाराघात हुआ। साथ ही म
की वृत्तियों और स्थितियों का विश्लेषण होने लगा और कार्य-व्यापारों के वास्तवि
निमित्तों को जानने की चेष्टा हुई। इस सब का संक्षेप में परिणाम यह हुआ वि
जातीय पात्रों की तुलना में वैयक्तिक, और स्थिर पात्रों की तुलना में गतिशील पात्र
की सृष्टि की जाने लगी, चरित्रांकन की नाटकीय शैली का उत्कर्ष बढ़ा, पद-पद पर
अन्तरानुभूतियों और मनःस्थितियों का गहन और सूक्ष्म विश्लेषण किया जाने लगा
चरित्र-निर्माण में केवल सत् अथवा केवल असत् तत्त्वों को अस्वीकार करके जीवन्त
पात्रों की अवतारणा हुई जिनमें एकान्त सजीवता और यथार्थता मुख्य दृष्टियाँ थी।

ज्ञान-विज्ञान के विस्तार के साथ मानवतावाद का उदय हुआ और समाजवाद ने इसके सत्वर विकास में मूल प्रेरणा दी। फलतः पददलित, शोषित, दरिद्र और उपेक्षित के प्रति सहानुभूति और सहृदयता का भाव प्रसार पाने लगा। प्राचीन साहित्य में मुख्य पात्र प्रायः उच्च श्रेणी के शिक्षित, सभ्य, कुलीन और समृद्ध होते थे, निम्न श्रेणी के पात्रों का चित्रण उस काल में प्रायः अलक्ष्य है। किन्तु अर्वाचीन युग की उमड़ती हुई नई मानवतावादी विचारधारा ने इन बन्धनों को अस्वीकार किया और सामान्य, अकिंचन, दुर्बल, विकृत, अपराधी व घृणास्पद को भी श्रेष्ठ, सशक्त तथा श्रीमन्त के साथ समभूमि पर प्रतिष्ठित किया। आभिजात्य आदि के विरोध में प्रभूत मात्रा में साहित्य, विशेषकर कथा-साहित्य का सृजन हुआ। चरित्र-चित्रण की कला के विकास में इस क्रांति की महत्ता सन्देहातीत है।

आरम्भ में कथोपकथन का प्रयोग कथा की विपुलता में वृद्धि के हेतु किया जाता था किन्तु कालान्तर में कथा के विकास तथा चरित्रांकन में इसकी उपादेयता सिद्ध हुई और कथोपकथन का कलात्मक उपयोग किया जाने लगा।

(३) कथोपकथन

चूँकि उपन्यास जीवन की ही कहानी होता है और मनुष्यों के समान ही उसमें पात्रों की योजना रहती है, अतः यथार्थता की दृष्टि से सजीव वातावरण के निर्माण के लिए कथोपकथन का प्रयोग उपन्यास में किया जाता है। जिस प्रकार मनुष्यों के उद्देश्य से पारस्परिक सम्पर्क-व्यवहार में सम्भाषण आवश्यक है, उसी प्रकार एक कथा में भी, सप्राण अनुकृति लक्ष्य होने के कारण कथोपकथन अथवा संवादों की आवश्यकता पड़ती है। कथा का विस्तार और चरित्र-चित्रण आज वे सामान्य किन्तु प्रधान हेतु हैं जिनके कारण कथोपकथन का उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त संवादों से कथोपकथनरत पात्रों की अन्तर्वृत्तियों और उन पर उनकी पारस्परिक प्रतिक्रियाओं का भी पता चलता है। चुस्त और सजीव कथोपकथन से कथा में नाटकीय पुट का भी समावेश होता है जिससे रोचकता में अभिवृद्धि होती है।

अच्छे कथोपकथन के अधोलिखित अभीष्ट गुण हो सकते हैं:—

(१) सरलता, सुबोधता और आकर्षण।

(२) सार्थकता और संक्षिप्तता।

(३) नाटकीयता किन्तु साथ ही स्वाभाविकता।

(४) पात्रों की बौद्धिक और मानसिक धरातल के प्रति अनुकूलता।

(५) असम्बद्ध वार्तालाप का परिहार।

उपन्यास में देश और काल की दृष्टि से असंगति नहीं आनी चाहिए। वर्णन और विवरण में उन रीति-नियमों आचार-व्यवहार, रहन-सहन के तरीकों आदि का उल्लेख नहीं होना चाहिए जिनका उपन्यास के देश-विशेष एवं काल-विशेष से कोई सम्बन्ध न हो। ऐतिहासिक उपन्यासों में लेखक को इस बात के प्रति विशेष सचेष्ट रहना चाहिए।

(४) देश-काल

(५) शैली

इसके अन्तर्गत शब्द-शक्ति, प्रसाद, ओज आदि गुणों, वाक्य-विन्यास, शब्द-प्रयोग आदि पर विचार किया जा सकता है। साथ ही घटनाओं के चयन में प्रयुक्त मूल सिद्धान्तों, घटना-संगठन-प्रणाली, कथा-उपस्थापन की पद्धति आदि विभिन्न रूप-रचना के उपादानों का भी विवेचन और विश्लेषण प्रस्तुत किया जा सकता है क्योंकि उपन्यास की शैली में ये भी निर्णायक तत्त्व हैं।

(६) रस

भारत में साहित्य-आचार्यों ने काव्य की आत्मा रस को माना है जिस काव्य-कृति में रस अनुभूति कराने की शक्ति है, वह समर्थ और सफल रचना है। चूंकि उपन्यास काव्य का ही एक अंग है, अतः रसोद्रेक उपन्यास का भी लक्ष्य है। अतएव रस-सृष्टि में जो कृति जितनी सफल है, उसका लेखक उतना ही महान् कलाकार है। परन्तु आज विश्व-साहित्य में बौद्धिकता का मोह बढ़ता जा रहा है और कथा और कथेतर साहित्य में बुद्धि-पक्ष की प्रधानता होती जा रही है। सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता का आश्रय लेने से और मत-विशेषों के उपपादन से साहित्य में भाव-प्रवणता दुर्बल पड़ गई है। रस-निर्वाह में असमर्थ ऐसे समस्त साहित्य को निकृष्ट कह कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। फिर भी साहित्य को अपने वैयक्तिक अथवा राजनीतिक दल विशेष के सिद्धान्तों के प्रचार का एकान्त माध्यम बनाना सर्वथा निन्दनीय है, क्योंकि ऐसी अवस्था में साहित्य प्रचार का एक पत्र-मात्र बन कर निर्जीव हो जाता है। सुख व आनन्द की अनुभूति कराना प्रत्येक उपन्यास का ध्येय होना चाहिए। निश्चय ही यह अनुभूति भावभूमि पर ही होनी चाहिए, विचार-भूमि पर नहीं क्योंकि बुद्धि को प्रवीण करने वाले वाङ्मय के अनेक दूसरे माध्यम हैं।

(७) उद्देश्य

उद्देश्य को उपन्यास के शिल्प-कक्ष का एक उपकरण मानना ही इस बात का द्योतक है कि उपन्यास सोद्देश्य होना चाहिए। परन्तु यह आवश्यक नहीं है, अर्थात् उद्देश्य उपन्यास का अनिवार्य तत्त्व नहीं है। यथार्थवादी और प्रकृतिवादी साहित्य की रचना किसी उद्देश्य को लेकर नहीं होती। एमिल ज़ोला, जार्ज मूर, कोनर्ड आदि ऐसे अनेक प्रसिद्ध उपन्यासकार हुए हैं, जिन्होंने अपने कथा-साहित्य में किसी भी प्रकार के सिद्धान्तों का उपपादन नहीं किया है। उपन्यासों के माध्यम से जीवन के प्रति अपने विचारों, दृष्टिकोण तथा आदर्शों का प्रतिपादन लेखक कर सकता है किन्तु उपर्युक्त लेखकों ने जीवन के विशद चित्रण में ही उपन्यास के सत्य की इति

मानी है। अतः उद्देश्य अथवा आदर्श का प्रतिपादन उपन्यास का उपकरण नहीं भी हो सकता है। यूँ तो, यदि तात्त्विक दृष्टि से देखें तो 'घोर से घोर यथार्थवादी कथा-साहित्य में भी उन विशिष्ट घटनाओं के साथ जिनका उपस्थापन लेखक को अभीष्ट है, कुछ न कुछ मात्रा में प्रतीकात्मक मूल्य सदा सम्बद्ध रहता है। प्रत्येक वस्तु का प्रतिनिधित्व-कारी पहलू होता है, चाहे वह कितना ही निगूढ़ अथवा अन्तर्भूत क्यों न हो। और यह बात कथा की घटनाओं पर ही लागू नहीं होती अपितु वर्णित वा पृष्ठभूमि के रूप में सकेतित वस्तुओं, तथा कथोपकथन के वाक्यांशों पर भी लागू होती है। वस्तुत: भाषा की प्रकृति ही ऐसी है कि जब भी किसी परिस्थिति के अर्थ को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया जाता है तो, उसमें इससे पहले कि वस्तु विशेष स्पष्ट हो, वह ध्वनि सन्निहित रहती है कि वह वस्तु किस प्रकार की है।''

हिन्दी में बहुत ही थोड़े उपन्यास तटस्थ वैज्ञानिक दृष्टि से लिखे गये हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'गिरती दीवारें' और 'गर्म राख' उपन्यास हिन्दी में यथार्थवादी धारा के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। यहाँ उपन्यास-साहित्य का बृहत्तर अंश आदर्शों के उपपादन के उद्देश्य से ही लिखा गया है। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी आदि सभी आदर्शवादी कलाकार हैं और अपने-अपने मत-विशेषों के अनुरूप विभिन्न सिद्धान्तों का प्रचार करते हैं। समस्त आदर्शवादी साहित्य प्रचारात्मक होता है। भेद इतना ही है कि कुछ में अपेक्षाकृत स्थायी मूल्यों को महत्त्व दिया जाता है और कुछ में केवल तात्कालिक समस्याओं को। हिन्दी के सभी मूर्धन्य आदर्शवादी उपन्यासकार यथार्थोन्मुख हैं यद्यपि यशपाल, जोशी आदि में यथार्थोंमुखता कहीं अधिक है।

आदर्शों के प्रतिफलन में लेखक को पर्याप्त सजग व सचेष्ट रहना पड़ता है। कला के प्रति तनिक अवज्ञा से आदर्शवादी लेखक उपदेशक अथवा नीतिवादी का अवांछित नाम पा सकता है। और ऐसा होना ही इस बात का साक्षी है कि कलाकार अपनी कला में असफल रहा है। अमृतराय का 'बीज' नामक उपन्यास साम्यवाद का पत्र लगता है क्योंकि लेखक ने अपने सिद्धान्तों का समावेश कथा में समुचित और अलक्षित ढंग से नहीं किया है। आदर्शवादी कलाकार को कला की दृष्टि से, और अपने उद्देश्य की दृष्टि से भी, सफल होने के लिए अपने मत का परि-पोषण अप्रत्यक्ष पद्धति से करना चाहिए।

---

1. "The Novel and the Modern World"—by Davis Daiches pp. 65 Chicago University Press, Chicago.

यथार्थवादी और प्रकृतवादी उपन्यास या तो प्राय: कोई विशेष स्थायी प्रभ नही छोड़ते या यदि छोड़ते भी हैं तो वे अधिकांश अस्वस्थ होते हैं। साहित्य के माध्य से जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण की स्थापना कोई अनभिप्रेत कार्य नहीं है। यदि उपन्यास आदि काव्यांगों द्वारा जीवन की स्वस्थ व्याख्या और आलोचना अप्रत्य रीति से की जाती है तो वह अधिक कल्याणकारी ही है।

(घ) उपन्यास का वर्गीकरण

उपन्यास का वर्गीकरण, शैली, क्रिया-कल्प, तथा विषय की प्रधानता—इ तीन दृष्टियों से किया जा सकता है।

शैली की दृष्टि से:—

१ रोमानी उपन्यास—इनका जीवन से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। रंगीन कल्पनाओं पर इनकी कथा का निर्माण होता है। जासूसी, तिलस्मी, साहसिक, वैज्ञानिक, त्रासद उपन्यास आदि इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं। विस्मय, भय, उत्साह आदि भावों की स्फूर्ति के द्वारा केवल मनोरंजन करना इनका उद्देश्य होता है। पलायन की वृत्ति इन के मूल में रहती है।

२. आदर्शवादी रोमानी उपन्यास—रोमानी उपन्यासों से ये इतने ही भिन्न होते हैं कि इनमें आदर्शों का आरोप रहता है। किशोरीलाल गोस्वामी के अधिकांश उपन्यास इसी वर्ग के हैं। स्थूल प्रेमाख्यान भी इसी वर्ग में रखे जा सकते हैं। मनोरंजन के साथ-साथ स्थूल नीति के उपदेशों का इनमें योग रहता है।

३. यथार्थवादी उपन्यास—जीवन का वस्तु-निष्ठ यथावत् चित्रण करना इन उपन्यासों का लक्ष्य है। जीवन के प्रति इनमें तटस्थ, निर्लिप्त व वैज्ञानिक दृष्टि रहती है।

४. आदर्शवादी उपन्यास—इनमें जीवन के लगभग यथार्थ चित्रण के साथ-साथ लेखक अपने विवेक का आरोप करता चलता है। अपने भावों व विचारों के प्रतिपादनार्थ लेखक वास्तविकता में इच्छानुसार परिवर्तन भी कर लेता है। यथार्थोन्मुखता इनकी शर्त है अर्थात् लेखक की कल्पना के पैर भूमि पर रहने चाहिएँ, अन्यथा उपन्यास रोमानी आदर्शवादी बन जायेगा। इस दृष्टि से इस वर्ग को आदर्शोन्मुख यथार्थवादी भी कह सकते हैं। इनका उद्देश्य मूलत: मन का संस्कार और भौतिक व मानसिक धरातल की विभिन्न समस्याओं का समाधान रहता है। इस वर्ग के उपन्यास सर्वोत्कृष्ट समझे जाते हैं।

क्रिया-कल्प की दृष्टि से :—

१. घटना-प्रधान उपन्यास।

२. चरित्र-प्रधान उपन्यास।

३. वातावरण-प्रधान उपन्यास। इस प्रकार के उपन्यासों का हिन्दी में अभी अभाव है यद्यपि पश्चिम के प्रभाववादी (Impressionist) व अभिव्यंजनावादी (Expressionist) अनेक उपन्यासकारों ने इस प्रकार के उपन्यासों की सृष्टि की है। यहाँ वातावरण से तात्पर्य भौतिक वातावरण से न हो कर, मानसिक वातावरण से है। हैरिस मैककॉय के 'दे शूट हॉर्सिज़, डोण्ट दे ?' वर्जीनिया वुल्फ़ के 'द वेव्ज़', आदि इस प्रकार के उपन्यासों के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

४. भाव-प्रधान उपन्यास। उदाहरण—व्रजनन्दन सहाय का 'सौन्दर्योपासक', चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के 'मनोरमा' और 'मंगल प्रभात'।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि घटना और चरित्र का समतुलन रहता है। प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यासों में घटनाएँ और चरित्र समान रूप से प्रधान हैं। घटनाओं की तुलना में चरित्र प्रधानता का परिचय उस समय मिलता है जब कि हम जैनेन्द्र और अज्ञेय को देखते हैं।

विषय-प्रधानता की दृष्टि से :—

१. काल्पनिक कथानक-प्रधान उपन्यास। इसके तीन उपभेद—(क) रोमानी (ख) अन्यापदेशिक व (ग) यूटोपियन।

२. सामाजिक कथानक-प्रधान उपन्यास।

३. ऐतिहासिक कथानक-प्रधान उपन्यास।

४. मनोवैज्ञानिक कथानक-प्रधान उपन्यास।

५. राजनीतिक कथानक-प्रधान उपन्यास।

६. पौराणिक कथानक-प्रधान उपन्यास।

(आ) हिन्दी उपन्यास का विकास[1]।

'दशकुमार चरित', 'कादम्बरी' आदि गद्य-काव्यों के रूप में पर्याप्त विकसि संस्कृत कथा-साहित्य को देखकर कुछ समीक्षकों ने यह स्थापना की कि आधुनि उपन्यास वस्तुतः कोई नवीन विधा न होकर इसी संस्कृत कथा-साहित्य की परम्प में विकास-प्राप्त रूप है।[2] किन्तु इस प्रकार की स्थापना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। कदाचि राष्ट्रीयता की भावना ही इसके मूल में प्रेरणा रही होगी। संस्कृत के इन गद्य-काव्यों डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'उपन्यास-जातीय कथा-काव्य' के नाम से अभिहित कि है, किन्तु फिर आगे स्पष्ट कह दिया है कि "फिर भी उन्हें 'उपन्यास' नहीं कहा ज सकता है।"[3] नलिन विलोचन शर्मा ने इसी बात को व्याख्या से और सशक्त शब्दों इस प्रकार कहा है, "हिन्दी में उपन्यास-रचना का प्रारम्भ हुआ तो उसका सम्बन्ध प्राचीन औपन्यासिक परम्परा से नाम मात्र का भी नहीं था। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास की स्थिति हिन्दी काव्य से सर्वथा भिन्न है। संस्कृत के प्राचीनतम काव्य से लेकर अधुनातन हिन्दी-काव्य की परम्परा अविच्छिन्न है, किन्तु हिन्दी का उपन्यास साहित्य वह पौधा था, जिसे अगर सीधे पश्चिम से नहीं लिया गया हो तो उसका बँगला कलम तो लिया ही गया था, न कि सुबन्धु, दण्डी और बाण की लुप्त परम्परा पुनरुज्जीवित की गई थी।"[4] डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने भी उपन्यास को 'हिन्दी में नई चीज' मानकर यह कहा है कि 'उसका सम्बन्ध संस्कृत की प्राचीन औपन्यासिक परम्परा और पौराणिक कथाओं से जोड़ना विडम्बना मात्र है।'

हिन्दी में उपन्यास के आविर्भाव के लिए गद्य का समुचित विकास आवश्यक था। अपनी समस्त विषमताओं, जटिलताओं और वैज्ञानिकता को लिए हुए पश्चिमी

---

१. यहाँ हम उपन्यास के इतिहास को रूप-रेखाओं पर विचार जैनेन्द्र के इस क्षेत्र में पदार्पण करने के काल तक ही करेंगे। जैनेन्द्र ने इस क्षेत्र में प्रथम प्रयास सन् '२६ में 'परख' के रूप में किया। किन्तु उनकी वास्तविक कला का रूप हमें 'सुनीता' सन् '३५ में मिलता है। 'गोदान' का प्रकाशन '३६ में हुआ। हम '३६ को ही अपने अध्ययन की अन्तिम सीमा मान रहे हैं।

२. यथा—डा० श्यामसुन्दर दास, देखिए—'साहित्यालोचन'।

३. 'हिन्दी-साहित्य'—डा० द्विवेदी, पृ० ४१३।

४. 'हिन्दी-उपन्यास'—लेख : ले० नलिन विलोचन शर्मा, "आलोचना" वर्ष २ अंक १।

सभ्यता के विभिन्न देशीय प्रभावों ने हिन्दी में (अन्य भारतीय भाषाओं में भी) गद्य को जन्म देकर उसके सत्वर विकास में अत्यधिक योग दिया। "पश्चिमी सभ्यता के साथ सम्पर्क स्थापित होने से विविध सुधारवादी तथा अन्य आन्दोलनों और नई शक्तियों की वृद्धि से अभूतपूर्व आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए, जिनके फलस्वरूप हिन्दी-साहित्य और भाषा की गति-विधि भी परम्परा छोड़ कर नवदिशोन्मुख हुई। पूर्व और पश्चिम के सम्पर्क से नवचेतना उत्पन्न हुई, समाज अपनी खोई शक्ति बटोर कर गतिशील हुआ, नवयुग के जन्म के साथ विचार-स्वातन्त्र्य का जन्म हुआ, साहित्य में गद्य की वृद्धि हुई और कवियों ने अपनी परिपाटी-विहित और रूढ़ि-ग्रस्त कविता छोड़कर दुनिया नई आँखों से देखनी शुरू की।"[1] मध्य-युगीन वातावरण से निकल कर १६ वीं शती का वह युग जीवन में चहुँमुखी जागरण, परिष्कार और नई दृष्टि लाया। व्यावहारिकता, वस्तु-निष्ठता और वैज्ञानिकता का उदय हुआ। यही कारण है की उपन्यास के रूप में एक समर्थ नवीन साहित्यिक विधा उस युग में उद्भावित हुई। वास्तव में उपन्यास ही एकमात्र साहित्यिक माध्यम है जिसमें जीवन के जटिल से जटिल और गूढ़ से गूढ़ पक्षों को अभिव्यक्त करने की सबसे अधिक शक्ति है। वस्तु-निष्ठता के अपने गुण के कारण ही उपन्यास का भाषान्तर करना काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक सफलता के साथ सम्भव है।

पहले ही संकेत किया जा चुका है कि हिन्दी उपन्यास के प्रादुर्भाव पर अंग्रेजी साहित्य का प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा था। बंगाल जिस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से, उसी प्रकार साहित्यिक व शैक्षिक दृष्टि से भी अंग्रेजी शासकों के सम्पर्क में, अन्य भारतीय प्रदेशों की तुलना में, बहुत पहले आ गया था। १९वीं शताब्दी के मध्य से ही बँगला में आधुनिक उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था। बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय उन दिनों बँगला उपन्यास के साहित्याकाश में सूर्य के समान थे। उनकी सूक्ष्म कला का व उनके अन्य समवर्ती उपन्यासकारों का हिन्दी की उठती हुई उपन्यास-धारा पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। चूँकि तात्कालिक पश्चिमी उपन्यास का बँगला पर प्रभूत प्रभाव था, इस कारण आरम्भिक काल में हिन्दी पर पश्चिमी उपन्यास की छाया प्रत्यक्ष न पड़कर बँगला के माध्यम से आयी, यद्यपि दो-तीन दशकों बाद अनेक पश्चिमी उपन्यासकारों के अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध होने के कारण, हिन्दी उपन्यास पर पश्चिमी उपन्यास की अनेक प्रवृत्तियों का सीधा प्रभाव भी पड़ा। 'दुर्गेशनन्दिनी'

१. 'हिन्दी-गद्य की प्रवृत्तियाँ' (निबन्ध-संग्रह) की भूमिका, ले० डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय। राजकमल प्रकाशन, बम्बई।

(सन् १८८२) और 'राधारानी' (सन् १८८३) के नाम से बंकिम बाबू कृत कु
ऐतिहासिक और प्रेमाख्यानक उपन्यासों का अनुवाद हिन्दी में पहले-पहल हुआ।

हिन्दी-उपन्यास के जन्म से पूर्व संस्कृत से अनूदित पौराणिक व धार्मि
कथाएँ तथा 'किस्सा तोता मैना,' 'किस्सा साढ़े तीन यार', 'बहारदर्वेश', 'बागो बहा
'किस्सा हातिमताई', 'तिलस्मे होशरूबा' आदि हिन्दी की मौलिक व फ़ारसी-उर्दू
अनूदित रचनायें हिन्दी-जनता के लोकप्रिय ग्रन्थ थे। किन्तु भारतेन्दु-युग में श्री
निवास दास का उपन्यास 'परीक्षा-गुरु' प्रकाशित हुआ। यह हिन्दी का सर्वप्रथम मौलि
उपन्यास है। इसका रचना-काल अज्ञात है किन्तु इसका द्वितीय संस्करण सन् १८८२ ई
में मुद्रित हुआ था।[1] निश्चय ही इसकी रचना कई वर्ष पूर्व हुई होगी।[2] इसके बाद हिन्
में उपन्यास क्रमशः प्रकाशित होते रहे। काल-क्रम की दृष्टि से प्रथम कुछ उपन्यास
की सूची इस प्रकार दी जा सकती है:—

१. परीक्षा गुरु—ले० श्रीनिवास दास, (१८८२ द्वि० सं०)
२. नूतन चरित्र—ले० रत्नचन्द्र प्लीडर (१८८३)
३. नूतन ब्रह्मचारी—ले० बालकृष्ण भट्ट (१८८६)
४. त्रिवेणी—ले० किशोरीलाल गोस्वामी (१८८८)
५. विधवा विपत्ति—ले० राधाचरण गोस्वामी (१८८८)
६. स्वर्गीय कुसुम—ले० किशोरीलाल गोस्वामी (१८८९)
७. हृदयहारिणी—ले० किशोरीलाल गोस्वामी (१८९०)
८. लवंगलता—ले० किशोरीलाल गोस्वामी (१८९०)।

'निस्सहाय हिन्दू' (ले० राधाकृष्ण दास) का रचना-काल डा० वार्ष्णेय ने
सन् १८९० ई० दिया है जबकि डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सन् १८८६।

---

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य'—डा० वार्ष्णेय, पृ० २०३।

२. डा० माताप्रसाद गुप्त के "हिन्दी-पुस्तक-साहित्य" में 'मनोहर उपन्यास' नामक एक उपन्यास का उल्लेख मिलता है, जिसका संशोधित रूप (सन् १८७१) ही आज उपलब्ध है। इसी को डा० गुप्त ने हिन्दी का सबसे पहला मौलिक उपन्यास माना है। विस्तार के लिए देखिए—'उपन्यास की व्युत्पत्ति'।

स्वयं भारतेन्दु ने एक उपन्यास लिखना आरम्भ किया था जिसका कुछ अंश 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित हुआ था। 'हमीर हठ' दूसरा उपन्यास था जिसका एक परिच्छेद वह लिख चुके थे किन्तु इसी बीच में उनकी मृत्यु हो गई। 'पूर्ण प्रकाश चन्द्रप्रभा' का उन्होंने मराठी से अनुवाद किया। साथ ही अन्य लेखकों को अनुवाद-कार्य में उन्होंने प्रोत्साहन दिया।

उपर्युक्त उपन्यासों की सामान्य विशेषताएँ:—

१. कला की दृष्टि से ये उपन्यास हीन हैं। कथानकों में जटिलता का अभाव है। चरित्र-चित्रण भी निम्न कोटि का है। इनमें जीवन के वैविध्य के दर्शन नहीं होते। कथोपकथन का विशेष प्रयोग नहीं है। भावों की तीव्रता और प्रवणता इनमें प्रायः नहीं मिलती। मनोवैज्ञानिक चित्रण से तो ये सर्वथा शून्य हैं।

२. उस समय के लेखक पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव में तत्कालीन समाज के तथाकथित नैतिक पतन से दुःखी थे। साधारणतः सामाजिक और विशेषकर गार्हस्थिक जीवन से सम्बन्धित नीति, व आचार की शिक्षा देने के हेतु उन्होंने उपन्यास को अपना माध्यम बनाया। अनेक सुधारवादी आन्दोलनों के प्रभाव में कठोर धार्मिक व नैतिक अनुशासन, पाप-पुण्य की परम्परागत दृष्टि का प्रचार इन उपन्यासों द्वारा हुआ। इस सम्बन्ध में संस्कृत से तद्विषयक अवतरण उद्धृत किए गये, पात्रों द्वारा लम्बे-लम्बे स्वगत भाषण दिलवाये गये। उपदेश की प्रवृत्ति के प्रधान रहने के कारण कला-पक्ष स्वभावतः ही गौण पड़ गया।

३. अपेक्षाकृत कम उपदेश-प्रधान उपन्यासों में प्रेम-तत्त्व को भी पर्याप्त स्थान मिला।

४. भाषा की दृष्टि से अधिकांश उपन्यासों में संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग हुआ है।

सन् १८९१ में हिन्दी-उपन्यास-इतिहास का एक नया युग आरम्भ हुआ क्योंकि इस वर्ष 'हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास' 'चन्द्रकांता' (ले० देवकीनंदन खत्री) प्रकाशित हुआ। इसके बाद उपन्यास-साहित्य का विकास सवेग होता गया और क्रमशः कविता और नाटक से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान इसने ग्रहण किया।

सन् ३६ तक के हिन्दी के प्रमुख उपन्यासों का हम इस प्रकार वर्गीकरण कर सकते हैं:—

(१) मुक्त काल्पनिक-कथानक-प्रधान उपन्यास, (२) सामाजिक-कथा प्रधान उपन्यास, (३) ऐतिहासिक-कथानक-प्रधान उपन्यास।

(१) मुक्त काल्पनिक-कथानक-प्रधान उपन्यास—इस वर्ग में दो प्रक के उपन्यास आते हैं—(क) ऐयारी-तिलस्मी और (ख) जासूसी उपन्यास।

(क) ऐयारी-तिलस्मी उपन्यास-हिन्दी में यह परम्परा उर्दू की मध्यता फ़ारसी से आई। 'तिलस्मे होशरुबा' और अमीर हमज़ा के अनेक तिलस्मी उपन्यास का हिन्दी लेखकों पर गहरा प्रभाव पड़ा। सबसे पहले किशोरीलाल गोस्वामी 'स्वर्गीय कुसुम' ('८९) और लवंगलता ('९०) उपन्यासों में तिलस्मी तत्त्वों क आंशिक रूप से प्रयोग किया। इसके बाद भी वह तिलस्मी करामातों का मोह नहं छोड़ सके। किन्तु इस क्षेत्र में देवकीनन्दन खत्री सबसे अधिक प्रतिभाशाली लेख हुए। उनके सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' १८९१ में, 'चन्द्रकान्ता संतति १८९६ में और 'भूतनाथ' १९०९ में प्रकाशित हुए। 'चन्द्रकान्ता संतति' और 'भूत नाथ' लगभग दो-दो सहस्र पृष्ठों के बृहदाकार उपन्यास हैं। देवकीनन्दन खत्री के बाद उनकी गतानुगतिकता में अनेकानेक तिलस्मी उपन्यासकार हिन्दी क्षेत्र में आये किन्तु साहित्यिक गुण की दृष्टि से उनका अधिक महत्त्व नहीं है। केवल 'पुतली महल' के लेखक रामलाल वर्मा का नाम उल्लेख्य है। डा० श्रीकृष्ण लाल के मत में 'भावना और शैली दोनों ही की दृष्टि से तिलस्मी उपन्यास चारण-काव्यों के अनुगामी जान पड़ते हैं।' देवकीनन्दन खत्री की कृतियों में अद्भुत कौशल और कल्पना-ऐश्वर्य है। ये उपन्यास इतने संगति-पूर्ण और यथार्थ शैली में लिखे गये हैं कि पाठक सहसा इनमें विश्वास करने लगता है। कुछ पाठकों को तो ऐसी आशंका होने लगी कि कहीं उनके पैरों के नीचे ही कोई तिलस्म न हो।' साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं में तो इनके कथानकों की सम्भवता और असम्भवता को लेकर वाद-विवाद भी चले। यह बात इन उपन्यासों की शैली की विश्वासोत्पादकता की ही द्योतक है। किन्तु क्रमशः अलौकिक कल्पना-सामर्थ्य के अभाव में इस कला का ह्रास हुआ और इस प्रकार के उपन्यासों में अतिप्राकृत, अविश्वसनीय तत्त्वों का समावेश होने लगा। इन उपन्यासों की रचना के मूल में, जैसा कि देवकीनन्दन खत्री ने स्वयं स्वीकार किया है, हिन्दी पाठकों का मनोरंजन करने की ही प्रवृत्ति थी। 'किन्तु मनोरंजन की क्षमता भी कला का एक प्रधान अंग है और उसकी प्रगति का द्योतक है, अतः तिलस्मी उपन्यासों को कलात्मक उपन्यासों का प्रथम रूप समझना चाहिए।"[१]

---

१. 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'—डा० श्रीकृष्ण लाल, पृ० २७७।

(ख) जासूसी उपन्यास—इस क्षेत्र में गोपालराम गहमरी का नाम प्रथम और अन्तिम शब्द है। इस परम्परा का जन्म और विकास अंग्रेज़ी उपन्यासों—विशेषकर सर आर्थर कानन डायल की कृतियों—के अनुवादों की छाया में हुआ। किन्तु गहमरी अथवा उनके समवर्ती अन्य जासूसी उपन्यासकारों में डायल की-सी तार्किकता, सूक्ष्म दृष्टि, शैली की सहजता और विश्वासोत्पादकता और सबसे अधिक कल्पना-शक्तित्व-वैचित्र्य की परिक्षीणता है। सन् १८९६ में 'अद्भुत लाश' से लेकर 'गुप्त भेद', सन् '११ तक गहमरी के दर्जनों जासूसी उपन्यास हिन्दी के पाठकों के समक्ष आये।

सन् '१८ से प्रेमचन्द आदि के आविर्भाव से उच्च कोटि के मौलिक सामाजिक उपन्यासों की परम्परा आरम्भ हो गई और तब क्रमशः तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों की रचना कम होती गयी।

(२) सामाजिक कथानक-प्रधान उपन्यास—इस वर्ग के अन्तर्गत तीन उपवर्ग किये जा सकते हैं—

(क) प्रेमाख्यानक, (ख) उपदेश-प्रधान और (ग) समस्या-प्रधान सामाजिक उपन्यास।

(क) प्रेमाख्यानक उपन्यास—इनके आदि लेखक किशोरीलाल गोस्वामी हैं। सन् '८६ में ही 'स्वर्गीय कुसुम' की रचना हो गयी थी। 'तारा', 'अँगूठी का नगीना' 'कुसुम कुमारी' आदि गोस्वामी के अनेक प्रेमकथा-प्रधान उपन्यास हैं। इन पर रीति-काव्य-परम्परा का प्रभाव स्पष्ट है। रीति-काव्यों के अनुकरण पर प्रेम का, मान, परिहास, अभिसार आदि प्रसंगों में चित्रण इस वर्ग के उपन्यासों की विशेषता है। वासनारंजित व ऊहात्मक उक्तियाँ भी इनमें मिलती हैं। कुछ उपन्यासकारों पर फ़ारसी-काव्य की परम्परा के प्रेम-चित्रण का प्रभाव भी देखा जा सकता है। रामलाल वर्मा का 'गुलबदन' इसी प्रकार का उपन्यास है।

आधुनिक ढंग के प्रेमाख्यानक उपन्यासों का आरम्भ चतुरसेन शास्त्री के 'हृदय की परख' ('१८) से होता है। चतुरसेन शास्त्री के 'व्यभिचार' ('२४) 'अमर अभिलाषा' ('३३) व 'आत्मदाह' ('३६), बेचन शर्मा 'उग्र' के 'चंद हसीनों के खतूत' ('२७) व 'बुधुआ की बेटी' ('२८), निराला के 'अलका' ('३३) एवं 'निरुपमा' ('३६) तथा वृन्दावन लाल वर्मा के 'प्रेम की भेंट' ('३१) व 'कुंडली चक्र' ('३२) उपन्यासों में प्रेम का चित्रण आधुनिक शैली पर हुआ है। यथार्थता, मनोवैज्ञानिकता व समस्या-पूर्ण दृष्टि ... हैं जो इन उपन्यासों को गोस्वामी आदि के उपन्यासों से ...

(ग) उपदेश-प्रधान—इन उपन्यासों की परम्परा सन् १८८२ के 'परीक्षा गुरु' से प्रारम्भ हुई थी। तदनन्तर इस प्रकार के उपन्यासों की रचना प्रभूत मात्र में होने लगी। उपन्यासों की वर्धमान लोकप्रियता से लाभ उठाने के विचार से धर्म-प्रचारकों और समाज-सुधारकों ने उपन्यासों में अपने-अपने विश्वास और मत-विशेषों का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार उपदेश-प्रधान उपन्यासों की वृद्धि बड़े वेग से होती रही। पौराणिक व सामाजिक दोनों प्रकार के नीति-प्रधान उपन्यास लिख गये। 'सती सीता', 'सती मदालसा' आदि पौराणिक उपन्यास इस संक्षिप्त पर्यालोचन में नगण्य हैं। नीति-प्रधान सामाजिक उपन्यासों का भी महत्व इसी दृष्टि से है कि इन्हीं कृतियों से समस्या-प्रधान उच्च कोटि के सामाजिक उपन्यासों का विकास हुआ। उपदेशात्मक उपन्यासों में परम्परागत व्यक्तिगत गुणों (यथा सत्य, दया, तपस्या, पातिव्रत्य आदि) की महत्ता प्रकट की गयी तथा घरेलू व सामाजिक क्षेत्रों में से प्रतिदिन के जीवन की सामग्री से कथा-वस्तुओं का निर्माण किया। बाल विवाह, स्त्रियों की दासता, जाति-पाँति का भेद, दहेज, अस्पृश्यता, सास-बहू व ननद-भौजाई के झगड़ों को लेकर स्थूल नीतिपरक आदर्शों की प्रतिष्ठा की गयी। मानव-स्वभाव के सजीव निरूपण, व जीवन के अधिक गम्भीर पक्षों के चित्रण के अभाव में तथा उपदेशों के आधिक्य एवं अरोचकता के कारण इन उपन्यासों की कला निम्न स्तर की है।

गोपालराम गहमरी के 'बड़ा भाई' ('६८) व 'सास-पतोहू' ('६८), कार्तिक प्रसाद खत्री का 'दीनानाथ' ('६६), ईश्वरी प्रसाद का 'स्वर्णमयी' ('१०), रामनरेश त्रिपाठी का 'मारवाड़ी और पिशाचिनी' ('१२), लज्जाराम शर्मा का 'आदर्श हिन्दू' ('१५), ब्रजनन्दन सहाय का 'अरण्यबाला' ('१५) व चाँदकरण का 'कालेज होस्टल' ('१६) शिक्षा व उपदेश-प्रधान उपन्यासों के प्रमुख व प्रतिनिधि उदाहरण हैं।

सेवासदन ('१८) के बाद प्रेमचन्द आदि की परम्परा के प्रारम्भ हो जाने से उपदेश-प्रधान उपन्यासों की रचना विरल होती गयी।

(घ) समस्या-प्रधान सामाजिक उपन्यास—सन् १९१८ में प्रकाशित प्रेमचन्द का 'सेवासदन' इस वर्ग का प्रवर्तक उपन्यास है। इस वर्ग की कला का चरमोत्कर्ष भी प्रेमचन्द के सन् '३६ के 'गोदान' में मिलता है। 'गोदान' की गणना आज हिन्दी के सर्वोत्कृष्ट उपन्यासों में की जाती है। 'सेवासदन' और 'गोदान' के मध्यवर्ती काल में निम्नलिखित उपन्यासों के नाम उल्लेखनीय हैं :—

'सेवासदन'—प्रेमचन्द ('१८), 'प्रेमाश्रम'—प्रेमचन्द ('२२), 'देहाती दुनिया' —शिवपूजन सहाय ('२६), 'रंगभूमि'—प्रेमचन्द ('२५), 'कायाकल्प'—प्रेमचन्द ('२६), 'मीठी चुटकी'—भगवतीप्रसाद वाजपेयी ('२७), 'विदा' प्रतापनारायण श्रीवास्तव ('२८), 'निर्मला'—प्रेमचन्द ('२८), 'अनाथ पत्नी'—भगवतीप्रसाद वाजपेयी ('२८), 'प्रतिज्ञा'—प्रेमचन्द ('२९), 'माँ'—विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक ('२६), 'कंकाल'—प्रसाद ('२६), 'वेश्या पुत्र'—ऋषभचरण जैन ('२९), 'सत्याग्रह' —ऋषभचरण जैन ('३०), 'शराबी'—बेचन शर्मा उग्र ('३०), 'अप्सरा'—निराला ('३१), 'गबन'—प्रेमचन्द ('३१), 'त्यागमयी'—भगवतीप्रसाद वाजपेयी ('३२), 'कर्मभूमि'—प्रेमचन्द ('३२), 'तितली'—प्रसाद ('३४) और 'गोदान'—प्रेमचन्द ('३६), 'मदारी'—गोविन्दवल्लभ पंत ('३६) तथा 'बचन का मोल'—उषा देवी ('३६)।

इन उपन्यासों में सर्वप्रथम समाज की गम्भीरतर समस्याओं पर विचार प्रस्तुत किया गया है। ग्रामीण समाज, मजदूर-वर्ग व मध्य श्रेणी के जीवन का यथार्थ चित्रण इन उपन्यासों में पहले-पहल सफल रूप से हुआ है। नारी की समस्याओं, विशेषकर वेश्या से सम्बन्धित समस्याओं के निदान की ओर इन उपन्यासों में पहला पदक्षेप किया गया है। पददलित, उपेक्षित, व शोषित को प्रकाश में लाकर सर्वहारा वर्ग पर किये गए अन्यायों व अत्याचारों को इन उपन्यासों ने स्वर दिया। हिन्दी में मानवतावादी कलाकारों में प्रेमचन्द प्रथम और सर्वश्रेष्ठ स्थान रखते हैं। सम-सामयिक समाज की राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, गार्हस्थिक आदि सार्वदेशिक परिस्थितियों के यथार्थ चित्रण एवं तत्सम्बन्धी समस्याओं के समाधानों की ओर ये उपन्यास पहले सच्चे प्रयत्न हैं। इनके सम्बन्ध में मुख्य बात यह है कि अपने पूर्ववर्ती नीति अथवा उपदेश-प्रधान सामाजिक उपन्यासों की तुलना में कलात्मक दृष्टि से ये कहीं अधिक उच्च कोटि की रचनाएँ हैं। ये सभी आदर्शवादी उपन्यास हैं, यद्यपि ऋषभचरण जैन, बेचन शर्मा 'उग्र' व प्रसाद-कृत 'कंकाल' में यथार्थोन्मुखता अपेक्षाकृत रेखांकित है।

(३) ऐतिहासिक उपन्यास—इस प्रारम्भिक युग के 'अधिकांश ऐतिहासिक उपन्यास केवल नाम मात्र के ऐतिहासिक हैं क्योंकि उनमें लेखकों ने इतिहास की ओट में तिलस्म, अय्यारी और प्रेम प्रसंगों की ही अवतारणा की है। उस युग का सांस्कृतिक वातावरण, महत् चरित्रों का चित्रण और महान् भावनाओं का अतिरंजित चित्र उनमें लेशमात्र भी नहीं है।'[1] किशोरी लाल गोस्वामी के १८९० में प्रकाशित

१. "आधुनिक हिन्दी साहि

'लवंगलता' को प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास कहा जा सकता है; नाम मात्र की ऐतिहासिकता को लिए हुए उपन्यासों में से यथोलिखित कुछ नाम उल्लेखनीय हैं :—

बलभद्रसिंह ठाकुर—सौंदर्य कुसुम ('१०), जयश्री ('११) व सौंदर्य प्रभा ('११)।

किशोरीलाल गोस्वामी—सेना और सुगंधि ('११), लाल कुँवर ('१२) व रजिया बेगम ('१५)।

ब्रजनन्दन सहाय—लालचीन ('१६)।

दुर्गाप्रसाद खत्री—अनंगपाल ('१७)।

गोविन्दवल्लभ पंत—सूर्यास्त ('२२)।

भगवतीचरण वर्मा—पतन ('२७)।

ऋषभचरण जैन—गदर ('३०)।

किन्तु यथार्थतः ऐतिहासिक उपन्यास का सूत्रपात वृन्दावनलाल वर्मा के 'गढ़ कुंडार' ('३०) से होता है। भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा' ('३४), व वृन्दावनलाल वर्मा का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी' ('३६) भी सामीप्य काल की प्रकाशित रचनाएं हैं। ऐतिहासिक खोज व काल्पनिक घटनाओं द्वारा इन्हीं उपन्यासों में पहली बार ऐतिहासिक वातावरण की सजीव सृष्टि की गयी। वास्तु-कौशल, चरित्र-निर्माण, ऐतिहासिक तथ्यों व तद्युगीन सांस्कृतिक वातावरण की दृष्टि से ये उपन्यास केवल ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि को ही नहीं लिए हुए हैं, प्रत्युत वास्तविक अर्थों में प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास हैं।

(६) जैनेन्द्र का पदार्पण

१९२९ में 'परख' प्रकाशित हुआ। अनेक समीक्षकों के मन में यह हिन्दी उपन्यास में जैसे अन्तिम शब्द था। तो फिर सन् '३५ में 'सुनीता' के साथ जैनेन्द्र के इस क्षेत्र में पदार्पण का क्या महत्त्व है? क्या जैनेन्द्र ने प्रेमचन्द की परम्परा को समृद्ध अथवा अवरुद्ध किया है? क्या जैनेन्द्र प्रेमचन्द की परम्परा के सेवक ही हैं? अन्तिम प्रश्न का उत्तर निश्चय ही नकारात्मक होगा। पूर्ववर्ती परम्परा से अलग भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जैनेन्द्र ने अपने क़दम रखे, इसे यदि संक्षेप में कहा जाए तो तीन शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है—जैनेन्द्र के उपन्यास हिन्दी-साहित्य

में सर्वप्रथम चरित्र-प्रधान उपन्यास है, जैनेन्द्र हिन्दी साहित्य के सर्वप्रथम व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं और जैनेन्द्र के उपन्यास सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यास हैं। इन वाक्यों का सम्पूर्ण अर्थ-गौरव समझने के लिए पूर्ववर्ती औपन्यासिक परिस्थितियों का आकलन आवश्यक है।

'सेवासदन' की तिथि सन् '१८ से पूर्व हिन्दी उपन्यासों में चरित्र-चित्रण की कला का सम्यक् विकास नहीं हुआ था। व्यंग्य-चित्र और रेखा-चित्र तो अनेक 'घरेलू' उपन्यासों में मिल जाते हैं किन्तु पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का निरूपण प्रारम्भ नहीं हुआ था। प्रेमचन्द ने पहले-पहल चरित्र-चित्रण में अपनी दक्षता का परिचय दिया। उनके उपन्यासों में इस कला का विकास निरन्तर होता रहा। 'रंगभूमि' के सूरदास, 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर तथा 'गोदान' के होरी में चरित्र-चित्रण-कला का चरम निदर्शन है। इन उच्च कोटि के चरित्रों के रहते हुए भी 'रंगभूमि' 'प्रेमाश्रम' व 'गोदान' चरित्र-प्रधान उपन्यास नहीं हैं क्योंकि चरित्रों की सृष्टि इनका उद्देश्य नहीं है। ये उपन्यास समाज के व्यापक से व्यापक चित्रण के लक्ष्य से प्रणीत हुए हैं, यही कारण है कि इनके चित्र-फलक विशाल और विस्तृत हैं। किन्तु 'सुनीता' में चरित्र ही उपन्यास के प्रधान तत्त्व हैं, इसमें जीवन को अपने आकार में परिवेष्ठित करने का प्रयास नहीं है। सुनीता, हरिप्रसन्न, और श्रीकान्त के व्यक्तित्व ही उपन्यास की सत्ता के आधार-स्तम्भ हैं। प्रेमचन्द्र व उनके अन्य समसामयिकों की कृतियों में चरित्र-चित्रण का महत्व असन्दिग्ध है किन्तु घटनाओं द्वारा जीवन की व्यापक अभिव्यक्ति का महत्त्व और भी अधिक है, अतएव उन्हें हम चरित्र-प्रधान उपन्यास की संज्ञा से अभिहित नहीं कर सकते।

दूसरी स्थापना भी चरित्र-चित्रण से सम्बद्ध है। यद्यपि 'सुनीता' से पूर्व चरित्र-चित्रण उपन्यास का एक आवश्यक अंग था और 'प्रकार-विशेष का व्यक्तिकरण' प्रारम्भ हो गया था, किन्तु सभी पात्र अपेक्षाकृत जातीय अधिक थे। चूंकि सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति ही प्रेमचंद आदि उपन्यासकारों का ध्येय था, उनके पात्र अपनी वैयक्तिक विशेषताओं को रखते हुए भी अपनी जाति अथवा समाज-विशेष के ही प्रतिनिधि अधिक थे। कारण यह है कि सामाजिक-भौतिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिये समाज के प्रतिनिधि अर्थात् जातीय पात्र ही उपयुक्त रहते हैं। किन्तु चूंकि 'सुनीता' की प्रकृति बहिर्मुखी, इतनी नहीं है जितनी कि अन्तर्मुखी सुनीता आदि चरित्रों की वैयक्तिक विशेषताएँ उनकी सामाजिक अर्थात् सामान्य विशेषताओं की तुलना में अधिक भारी हैं। समष्टि-केन्द्रित अवस्था से उपन्यास की दिशा को व्यक्ति-

केन्द्रित करने और वैयक्तिक पात्रों के प्रथम स्रष्टा होने के कारण 'सुनीता'कार प्रथम व्यक्तिवादी उपन्यासकार है।

अपनी चरित्र-प्रधानता और अन्तराभिमुखता के कारण जैनेन्द्र के उपन्यास में मनोवैज्ञानिक निरूपण स्वाभाविक था। प्रेमचंद आदि की अपेक्षा 'सुनीता' में मनोविज्ञान का आश्रय कहीं अधिक लिया गया है। यह निश्चित है कि जैनेंद्र में व्यापक सामाजिक चित्रण का एकान्त अभाव है। तो क्या उनकी 'सुनीता' एक गार्हस्थिक उपन्यास है ? यह ठीक है कि उपन्यास एक गृहस्थी की सीमा का अधिक अतिक्रमण नहीं कर सका है, किंतु उसमें गृहस्थी की समस्याओं व वातावरण का चित्रण अप्राप्य है। इसकी व्याख्या यही है कि जैनेंद्र वस्तु-जगत् (विस्तृत समाज व गृहस्थी दोनों का ही अन्तर्भाव उसमें है) के चित्रकार नहीं हैं क्योंकि मनोजगत् का चित्रण उनकी कला है। 'सुनीता' वस्तुतः हिन्दी का प्रथम मनोवैज्ञानिक उपन्यास है।

स्पष्ट है कि जैनेंद्र ने प्रेमचंद की परम्परा को बढ़ाया नहीं है क्योंकि उन्होंने उसे पुष्ट भी नहीं किया है। अपनी मौलिकता की सामर्थ्य पर उन्होंने हिन्दी उपन्यास के लिये नये क्षेत्रों का उद्घाटन किया। इस सम्बन्ध में श्री नलिनविलोचन शर्मा के शब्द उद्धरणीय हैं:—

"१९३६ में प्रेमचंद का 'गोदान' प्रकाशित हुआ था, १९३६ में ही जैनेंद्र की 'सुनीता' प्रकाशित हुई थी। प्रेमचंद ने अपने दशाधिक उपन्यासों की उपलब्धि को एक ओर रख कर 'गोदान' में व्यापक से व्यापकतम भारतीय जीवन को चित्र के रूप में आकलित किया। जैनेन्द्र ने प्रेमचंद की, और अगर प्रेमचंद की नहीं तो समस्त हिन्दी उपन्यास की, उपलब्धि का प्रत्याख्यान करने का मौलिकतापूर्ण साहस दिखाया और 'गोदान' के रचयिता प्रेमचंद से उन्हें सब से अधिक प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला। जैनेंद्र ने खेत, खेत, सुखी हवा और सामाजिक जीवन के विस्तारों को छोड़कर शहर की गली और कोठरी की सम्यता को, व्यक्ति के आभ्यन्तर जीवन की दुश्चिन्ताओं की गहराइयों को और भी पहले से अपने उपन्यासों को विषय बनाना शुरू कर दिया था। 'सुनीता' में उपन्यासकार ने सबसे गहरी डुबकी लगाई थी।"[1]

---

१. लेख—'हिन्दी उपन्यास'—ले० नलिनविलोचन शर्मा, 'आलोचना'—वर्ष २, अंक १।

तीसरा अध्याय

जैनेन्द्र के उपन्यासों का विशिष्ट विवेचन

'परख'[1]

प्रस्तुत उपन्यास अपने क्षेत्र में जैनेन्द्र की प्रथम कृति है। पहला प्रयास होने के कारण यह उपन्यास सभी दृष्टियों से अप्रौढ़ और अपरिपक्व रचना है। आज 'परख' का महत्व इतना ही है कि जैनेंद्र की औपन्यासिक कला के विकास में यह प्रथम कड़ी है। इसके मूल्य के सम्बन्ध में उन्होंने सन् '४१ की भूमिका में स्वयं कहा है, "यह पुस्तक देखते समय जी किया कि अगर इससे इन्कार न करूँ तो यहाँ से वहाँ तक बदल तो दूँ ही। पर यह मैं नहीं कर सकता था। आज का सच बीते कल के निषेध पर नहीं स्वीकार पर ही क़ायम हो सकता है।"

१४२ पृष्ठों के इस उपन्यास की कथा अधिक बड़ी नहीं है। सत्यधन आदर्श की झोंक में वकालत पास करके गाँव में चला जाता है और वहीं रहने लगता है। वहाँ पड़ोसिन की लड़की कट्टो से, जिसके साथ वह बचपन में खेला करता था, उसका सम्पर्क बढ़ जाता है और वह उसे पढ़ाने लग जाता है। धीरे-धीरे प्रेम प्रच्छन्न रूप से प्रस्फुटित होने लगता है और सत्यधन अपने आदर्श से प्रेरित होकर बाल-विधवा कट्टो के विवाह की बात सोचने लगता है किन्तु अपने साथ नहीं, अपितु अन्य किसी सुपात्र के! इस पर वह अपने सहपाठी मित्र बिहारी को जो स्वच्छन्द और साहसिक वृत्ति का व्यक्ति है, कट्टो के उद्धार के लिए राजी कर लेता है और उसकी बहन गरिमा के साथ अपने विवाह में भी उसे कोई आपत्ति नहीं है।

परन्तु जब यह प्रस्ताव वह कट्टो के सामने रखता है तो कट्टो सत्यधन के मित्र से विवाह करना अस्वीकार कर देती है, क्योंकि सत्यधन के चरणों में सेवा करने में ही वह सुखी है। इस प्रणय-प्रकाशन से सत्यधन प्रभावित होता है और वह एक ओर भावुक प्रेम तथा दूसरी ओर धन, शिक्षा आदि गुणों से सम्पन्न गरिमा के साथ अपने विवाह के प्रस्ताव में निश्चय नहीं कर पाता है। बाद में बिहारी के पिता

---

१. छठी आवृत्ति, फरवरी १९५३। प्रकाशक—नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई-४।

के समझाने पर प्रेम को यह जीवन का निर्णायक तत्त्व नहीं बनने देता है और गरि से विवाह करने के लिये तैयार हो जाता है। बिहारी और कट्टो का जब परिच होता है तो बिहारी सत्यधन में कट्टो की अगाध श्रद्धा देखकर निराश नहीं होता उसके प्रति अधिक मुग्ध और आकृष्ट ही होता है। तथा कट्टो भी बिहारी की सरलता एवं आत्मीयता के कारण उसे अपने हृदय में सत्यधन के समकक्ष ही स्थान दे देती है। बाद में, दोनों एकान्त में, परिणय की प्रतिमा में आबद्ध होते हैं कि भविष्य ं विवाह नहीं करेंगे, किन्तु साथ भी रहेंगे।' 'हम एक होंगे—एक प्राण दो तन कोई हमें जुदा नहीं कर सकेगा।'

गरिमा और सत्यधन का विवाह सम्पन्न हो जाता है और गरिमा गाँव आ जाती है। कट्टो से उसकी घनिष्ठता बढ़ती है पर शीघ्र ही गाँव के नीरस और अपरिवर्तनशील वातावरण से ऊब कर सत्यधन के साथ शहर लौट आती है। सत्यधन गरिमा के पिता का व्यवसाय सँभालने लगता है क्योंकि बिहारी तो इन बन्धनों में न फँस कर भ्रमण करने चला गया है। सत्यधन के दुर्व्यवहार के कारण गरिमा के पिता मरते समय अपनी समस्त सम्पत्ति बिहारी को ही दे जाते हैं। इस पर सत्यधन क्रुद्ध होकर अलग रहने लग जाता है किन्तु धनाभाव के कारण शीघ्र ही बिहारी और कट्टो के सहायता के आग्रह को स्वीकार कर लेता है। बिहारी धन की चिन्ता न कर गाँवों में हल जोतने की इच्छा से सब त्याग कर चला आता है और कट्टो बच्चों को पढ़ाने का निश्चय करती है।

कथानक बहुत साधारण और सीधा है। बाद के उपन्यासों की सी अस्पष्टता और रहस्यमयता का 'परख' में अभाव है। भावुकता का आधिक्य ही इस कृति का वैशिष्ट्य है। भावुकता यद्यपि लेखक के अन्य उपन्यासों में भी मिलती है किन्तु वहाँ वह बौद्धिकता के पुट से संतुलित रहती है। 'परख' मात्र हृदय का उद्गार है। दार्शनिक चिन्तन के सूत्र मिलते हैं किन्तु उनको दृष्टि लाँघ भी सकती है। चरित्र-चित्रण गूढ़ता और जटिलता से शून्य है। सत्यधन आदर्श के पीछे भागता है किन्तु उसमें न तो गम्भीर चिन्तन की सामर्थ्य है और न ही आदर्श के अनुपालन की। वह वास्तव में अनुदार वृत्ति का पुरुष है और आत्म-प्रवंचक है। ऐश्वर्य के प्रति उसका प्रबल आग्रह उसके सकल व्यक्तित्व को अभिभूत किए है। वह कट्टो से प्रेम करता है और जानता है कि कट्टो को उसके प्रति अगाध प्रीति और श्रद्धा है किन्तु एक ओर न तो उसमें समाज की परम्परागत रूढ़ि को विच्छिन्न करने की शक्ति है और न ही दूसरी ओर गरिमा के साथ मिलने वाली सम्पत्ति व प्रतिष्ठा को ठुकरा देने वाला

आत्म-गौरव। माँ के जीवन और बिहारी के पिता की सम्पत्ति की ओट लेकर वह अगाध प्रेम और श्रद्धा अर्पण करने वाली कट्टो को अस्वीकार कर गरिमा का पाणि-ग्रहण करता है। बाद में श्वसुर के व्यवसाय के सँभालने पर वह धनोपार्जन में इतना व्यस्त होने का अभिनय करता है कि अपने उपकारी वृद्ध की ओर से असावधान हो जाता है और उसे असीम मानसिक कष्ट पहुँचाता है। धन के प्रति उसकी यह उग्र लालसा फिर प्रकट होती है और श्वसुर की सम्पत्ति का कुछ भी अंश न मिलने पर वह उसके प्रति क्रुद्ध होता है और अपने को प्रवंचित समझता है। अहंकार और और 'आदर्श' के खोखलेपन के कारण एक बार सर्व-त्याग करने पर भी वह फिर बिहारी से धन लेने के लिए बाध्य होता है।

कट्टो बचपन ही से सत्यधन के साथ खेलती आयी है और उससे शिक्षा पाती आयी है। अपने मास्टर में उसे अपरिमित श्रद्धा है, भक्ति है और यह श्रद्धा-भक्ति कब प्रणय का रूप ग्रहण कर लेती है, वह एकाएक नहीं जान पाती है। सत्यधन जब बिहारी से उसके विवाह का प्रस्ताव रखता है तब कट्टो अपने अन्तर में अनुभव करती है कि मास्टर के प्रति उसकी आसक्ति कहीं अधिक गहरी है, कि वह सत्यधन के अतिरिक्त किसी से भी प्रणय-सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकती। यह ज्ञात होने पर भी कि सत्यधन का विवाह गरिमा से होगा, उसे गरिमा के प्रति तनिक भी ईर्ष्या या द्वेष का अनुभव नहीं होता। वह अपनी 'जीजी' के स्वागत के लिए हृदय से तैयार है और उसका अदम्य आग्रह है कि 'जीजी' आये तो पहली बार उसी के हाथ का बना भोजन खाये। अपनी 'जीजी' की अथक सेवा करने और उसका स्नेहसिक्त आशीर्वाद पाने का उसमें अपूर्व उत्साह है। बिहारी के हृदय की स्वच्छता और सहानुभूति पाकर उसमें उसके प्रति ममत्व का भाव उपजता है और सत्यधन के प्रति अपनी श्रद्धा को उसके साथ बाँटने के लिए वह तैयार है। बिहारी उसमें आधिपत्य की तृष्णा का अभाव और लोकोत्तर आत्मोत्सर्ग की भावना देख कर उससे प्रतिज्ञा में आबद्ध हो जाता है। धन के लिए कट्टो में कोई इच्छा नहीं है। बहुत-सा धन वह सत्यधन को दे देती है। अब वह ग्रामीण बच्चों को पढ़ाने में ही सन्तोष और सुख प्राप्त करेगी। वास्तव में 'कट्टो' आदर्श जगत् की अलौकिक सृष्टि है। उसका विग्रह ऊर्जस्वित कल्पना और लोकातीत आदर्श के कोमल एवं रेशमी तन्तुओं से बना है।

चरित्रों के सम्बन्ध में स्वयं लेखक का कथन है, "······उसके (परख के) सत्यधन की व्यर्थता मेरी है और बिहारी की सफलता मेरी भावनाओं की है। और

कट्टो वह है जिसने मुझे व्यर्थ किया और जिसे मैं अपनी समस्त भावनाओं का वरदान देना चाहता था।"[1]

उपन्यास का प्रेरणा-स्रोत क्या था, इस विषय में जैनेन्द्र ने एक स्थान पर लिखा है। "तैयारी नहीं थी, कुछ सीखा नहीं था, जाना नहीं था, ऐसी हालत में सन् १६२६ में 'परख' लिख गया। प्रश्न होगा किन प्रेरणाओं से वह पुस्तक लिखी? उत्तर में बाहरी परिस्थितियों की प्रेरणा तो यह कहिए कि मैं खाली था और नहीं जानता था कि अपना और अपने समय का क्या बनाऊँ। दूसरी, जिसे भीतरी कहनी चाहिए, यह कि एक घटना का बोझ मन पर था जिसमे दबा न रहूँ तो मुझे हलका ही रहना लाजिमी था। कह नहीं सकता कि पुस्तक में जीवन की घटित घटना और मन की कल्पना के तारों का ताना-बाना किस तरह बैठा। पुस्तक घटना और कल्पना का कुछ ऐसा रासायनिक मिश्रण है कि उन दोनों के किसी अणु को भी एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।"[2] ऊपर की संकेतित 'घटना' जैनेन्द्र के युवा काल में ही घटित हुई थी। यही कारण है कि वास्तविक 'घटना' पर आश्रित होने पर भी उपन्यास में इतनी भाव-प्रवणता है और आदर्शीकरण है क्योंकि ये दोनों ही बातें यौवन-सुलभ हैं।

क्रिया-कल्प की दृष्टि से भी लेखक की अन्य कृतियों की तुलना में इस उपन्यास में अनेक सामान्य और विशिष्ट तत्त्व हैं। पहले कहा जा चुका है कि 'परख' में बौद्धिकता का अभाव और भावुकता का आधिक्य है। इस कारण इसकी वर्णन-शैली में अनेक स्थलों पर काव्यमयता दृष्टिगोचर होती है।[3] अन्तर्वृत्तियों का अवच्छेद अन्य उपन्यासों की तरह इसमें भी मिलता है पर उसमें अतिसूक्ष्मता और मार्मिकता का प्रायः अभाव है। चरित्र-प्रधान होने पर भी 'परख' में मनस्तत्त्व का विवेचन और विश्लेषण अधिक नहीं है। यही कारण है कि इसकी कथा-वस्तु अपेक्षाकृत अधिक स्थूल है। भाषा-शैली के विषय में एक बात मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। लेखक ने स्थल-स्थल पर पाठक को सम्बोधित किया है मानो वह भी लेखक के साथ

---

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—ले० जैनेन्द्र कुमार पृ० १३।

२. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'—ले० जैनेन्द्र कुमार पृ० ४११।

३. यथा—पृ० २०, पृ० ३७, पृ० ४१, पृ० १०३ इत्यादि।

कहानी की घटनाओं का दर्शक है।[1] यह पद्धति चूँकि आज प्रचलन में नहीं है, इस उपन्यास में उतनी ही भद्दी लगती है जितनी कि देवकीनन्दन खत्री और किशोरीलाल गोस्वामी की कृतियों में। भाषा के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन अगले अध्याय में किया गया है। पात्रों की आकृति का वर्णन भी इस उपन्यास में पर्याप्त मात्रा में मिलता है जिसका बाद के उपन्यासों में अभाव है।

सुनीता[2]

'सुनीता' की कथा 'कोई लम्बी-चौड़ी' नहीं है क्योंकि 'कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है।' प्रस्तुत कृति में कथा के सूत्र बहुत थोड़े हैं, जो हैं वे इस प्रकार हैं :—

श्रीकान्त और हरिप्रसन्न कालिज-समय में मित्र रहे हैं। किन्तु इधर कुछ वर्षों से इनका मिलना नहीं हुआ है। हरिप्रसन्न राजनीतिक षड्यन्त्रों और सत्याग्रहों में भाग लेकर क्रान्तिकारी बन चुका है, और श्रीकान्त अब विवाहित है और वकालत कर रहा है। अज्ञात कारणों से हरिप्रसन्न का श्रीकान्त के यहाँ ठहरना होता है। इस काल में वह सुनीता—श्रीकान्त की पत्नी—की ओर आकृष्ट होता है। सुनीता भी हरिप्रसन्न के प्रति उत्सुक है और उसके विचित्र रहस्यमय व्यक्तित्व से प्रभावित है। वह हरिप्रसन्न को बाँधे रखने की चेष्टा करती है। श्रीकान्त भी चाहता है कि वह अपने इस मित्र को असाधारण से साधारण स्तर पर ले आये। और जब वह किसी कार्यवश लाहौर चला जाता है तो सुनीता से कह जाता है कि वह हर प्रकार से हरिप्रसन्न को रोक रखे। इधर हरिप्रसन्न कल्पना करता है कि यदि सुनीता उसके दल की प्रेरणामयी स्फूर्तिदात्री 'देवी चौधरानी' बन सके तो देश का अत्यधिक कल्याण हो। सुनीता भी एक रात के लिए दल के युवकों से मिलना स्वीकार कर लेती है। जिस रात सुनीता और हरिप्रसन्न दल के स्थान की ओर रवाना होते हैं, उसी रात श्रीकान्त वापस आता है और घर को बंद देखता है। उधर हरिप्रसन्न सुनीता को साथ लेकर जंगल में गुप्त स्थान पर पहुँचता है तो वह पाता है कि उसका दल खतरे में है चूँकि पुलिस को पता लग गया है। इस पर उस जंगल में उसे अपनी वासना की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है। सुनीता भी इस व्यक्ति के प्रति, जो अपनी

१ यथा—पृ० १४, २०, १२८ इत्यादि।

२. चौथा संस्करण, सितम्बर, १९४६। प्रकाशक—नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, गिरगाँव, बम्बई—४।

काम-प्रवृत्ति के कारण ही इतना दुर्धर्ष और प्रचण्ड है, पीड़ा का अनुभव करती और उसके सामने अपना निरावरण शरीर प्रस्तुत करती है किन्तु हरिप्रसन्न लज्जा का अनुभव करता है और सुनीता को स्वीकार नहीं करता। घर लौटने सुनीता हरिप्रसन्न से वचन लेती है कि वह अपने को ऐसी परिस्थिति में नहीं डाले जिसमें कि उसकी मृत्यु की आशंका हो। हरिप्रसन्न सदा के लिए चला जाता है सवेरे जब श्रीकान्त सुनीता से मिलता है तो वह उसे सब कुछ बता देती है। श्रीका सुनीता से प्रसन्न है कि उसने एक व्यक्ति की मानसिक ग्रंथि को खोलकर समाज बड़ा उपकार किया है।

उपन्यास की भूमिका में लेखक ने जीवन-खण्ड के इस चित्र से सत्य के दर्श करने और कराने की बात कही है क्योंकि 'जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में भी है यदि इस कृति में कुछ सत्य है तो वह सत्य निश्चय ही पात्रों के चरित्र-चित्रण है, उनके पारस्परिक सम्बन्धों में है, कथा में नहीं, क्योंकि उपर्युक्त कथा में इतन शक्ति ही नहीं है। वस्तुतः चरित्रों की सृष्टि ही आलोच्य उपन्यास का प्राण है अतएव सुनीता, हरिप्रसन्न और श्रीकान्त—इन प्रमुख पात्रों के चरित्र-निर्माण प किंचित् विस्तार से विचार करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सुनीता का लालन-पोषण कदाचित् रूढ़िगत संस्कारी परिस्थितियों में ही हुआ है। अतएव उच्च शिक्षा, कला-ज्ञान, रूप आदि गुण होने पर भी साधारण आय वाले पति के घर पर वह सभी काम-धंधे स्वयं करती है। पति-पत्नी में घनिष्ठता और आन्तरिकता अधिक नहीं है फिर भी वह मानती है कि विवाह निबाहने योग्य संस्था है। हरिप्रसन्न के विषय में श्रीकान्त के बार-बार उल्लेख से उसके हृदय में उत्सुकता जाग चुकी है। उसे हरिप्रसन्न का व्यक्तित्व रहस्यमय, ओझल और विचित्र लगता है। परिचय होने से पूर्व ही वह उसके लिए अपने हृदय में एक प्रकार की करुणा पाल चुकी है। और जब हरिप्रसन्न उसके सम्मुख आता है तो वह उसे लेकर चिन्तित हो जाती है। वह चाहती है कि यह नाते-रिश्तों से विहीन, बेघर-बार व्यक्ति जीवन के सामान्य मार्ग पर चले और साधारण व्यक्ति की तरह आचरण-व्यवहार करे। वह अपनी बहन सत्या की पढ़ाई के निमित्त से उसे बाँधना चाहती है। किन्तु हरिप्रसन्न ने उसे कहीं अधिक गहरे रूप से प्रभावित किया है। क्योंकि जब हरिप्रसन्न नगर छोड़ कर चला जाता है तो वह जैसे उसके भाव-जगत में आलोड़न मचा जाता है। वह अपने ही प्रति क्रोध और उद्वेलन का अनुभव करती है क्योंकि अपने अन्तर में वह पाती है कि हरिप्रसन्न की चिन्ता सत्या को लेकर नहीं है, अपने को ही लेकर

। उसकी यह मन:स्थिति उसके सितार-वादन में और पति-गृह में ठहरने की समर्थता में अभिव्यक्त होती है। पतिगृह से भागना जैसे पति के प्रति अपने दायित्व · भागना है अथवा यूँ कहें कि अपने से भागना है, हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व ने उसके [ह]दय में जो स्पन्दन पैदा किया है, उस स्पन्दन को अस्वीकार करना है।

सुनीता की अनुपस्थिति में जब हरिप्रसन्न फिर लौट आता है और उसके [आ]ने की सूचना सुनीता को माँ के यहाँ मिलती है तो जैसे उसका अभिमान जाग [उ]ठता है। वह लौटने को तैयार नहीं। लेकिन फिर अगले ही दिन आने की बात [क]हती है।

हरिप्रसन्न की सो रुपयों की माँग को टाल कर वह हरिप्रसन्न को बाँधना चाहती है। वह इस बात पर भी जोर देती है कि हरिप्रसन्न सत्या को पढ़ाए। श्रीकान्त-सुनीता के घर पर अपने वास में हरिप्रसन्न जब सुनीता से घनिष्ठ होकर बात करता है तो सुनीता अनसुनी का भाव दिखाती है। वह अभी तक वस्तु-स्थिति का सामना नहीं करना चाहती। हरिप्रसन्न जब यह कहता है कि मेरी सब-कुछ तुम हो तो वह रोटी चढ़ाने की बात करती है।' पूर्ण वस्तु-स्थिति का भान उसे तब होता है जबकि श्रीकान्त लाहौर जाने की बात करता है। इस समय उसके और हरिप्रसन्न के पारस्परिक आकर्षण का तथ्य अपनी पूर्ण शक्ति और आतंकमय भविष्य के साथ चेतन धरातल पर आ जाता है और वह श्रीकान्त से रुक जाने का और हरिप्रसन्न के अलग बन्दोबस्त करने का अनुरोध करती है। उसे लगता है कि विवाह में, धर्म में, ईश्वर में जैसे उसका विश्वास उससे खिसका जा रहा है। वह श्रीकान्त के प्रेम का और विश्वास का आश्वासन चाहती है। फल यह होता है कि पति के विषय में उसकी जो भावनाएँ क्षीण पड़ गई थीं, वे सब फिर सशक्त हो जाती है और वह पति की अनुपस्थिति में हरिप्रसन्न का सामना करने की शक्ति का अनुभव करती है। अब वह हरिप्रसन्न के समक्ष भी यह स्वीकार करते नहीं [illegible] कि दोनों एक दूसरे के प्रति आकृष्ट हैं, साथ ही कहती है कि हमारा [illegible] भागना अनुचित है और हमें ईश्वर में [illegible] का सामना करने का [illegible] यदि उसके सम्बन्ध [illegible] विशेष चिन्तित

किन्तु हरिप्रसन्न का आकर्षण भी कम नहीं है। और जब वह अपने दल के युवकों के लिए उसको एक 'चिरन्तन माता, एक माया-मूर्ति' बनाने की कल्पना की बात करता है तो वह उसके साथ जाने के लिए राजी हो जाती है। रिवाल्वर के प्रसंग में जब हरिप्रसन्न अपने ऊपर ही गोली चलाने का खेल करता है तो सुनीता आतंकित हो जाती है। इन दोनों प्रसंगों से पति में उसकी आस्था दृढ़-सी जाती है और हरिप्रसन्न का मोह प्रबल हो जाता है।

परन्तु फिर अगले ही दिन पति के पत्र के नीचे वह फिर अपने में विश्वास का अनुभव करती है। दूसरे, पत्र द्वारा पति का आदेश उसे मिल ही गया था।

जंगल में जब हरिप्रसन्न अपने प्रेम की बात करता है तो जैसे सुनीता विमो' हो जाती है। किन्तु उस व्यवधान में जब कि हरिप्रसन्न उससे दूर हट कर बैठता है तो उसे यह विचार करने का अवसर मिल जाता है कि हरिप्रसन्न इतना रहस्यमय औ असाधारण क्यों है। वह पाती है कि वास्तव में काम-अमुक्ति के कारण ही हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व में इतनी हिंसा और दुर्दान्तता है। इस पर हरिप्रसन्न के लिए उसके हृदय में करुणा और पीड़ा का भाव उठता है और वह उसे हिंसा से मुक्त करने के लिए, उसकी वासना शांत करने के लिए तैयार है। वह कहती है, 'तुम्हें काहे की झिझक है, बोलो। मैंने कभी मना किया है? तुम मरो क्यों? मैं तो तुम्हारे सामने हूँ। इन्कार कब करती हूँ? लेकिन अपने को मारो मत। हरी बाबू, मरो मत, कर्म करो। मुझे चाहते हो, तो मुझे ले लो।' और अंत में हरिप्रसन्न से वह वायदा करवा लेती है कि वह अपने को नहीं मारेगा।

चूँकि उसे श्रीकान्त में पूर्ण आस्था है, वह उससे झूठ नहीं बोलती और उसे इस घटना के बारे में सच-सच बता देती है।

यदि सुनीता के चरित्र-चित्रण को वैसे ही ग्रहण करें जैसे कि जैनेन्द्र ने प्रस्तुत किया है, तो निश्चय ही उसमें पर्याप्त शक्ति है। उसका संस्कारी मन पहले तो यह स्वीकार ही नहीं करना चाहता कि वह एक पत्नी होते हुए भी अन्य पुरुष के प्रति आकृष्ट है किन्तु वस्तु-स्थिति जब ऊपर उभर ही पड़ती है तो पति और प्रेमी को लेकर उसका अन्तःसंघर्ष अत्यन्त मार्मिक है। ईश्वर में, विवाह में और पति में उसकी आस्था का पक्ष ही भारी रहता है किन्तु दूसरी ओर प्रेमी के व्यक्तित्व के समुचित विकास के लिए वह उसकी काम-बुभुक्षा को मिटाने के लिए भी तैयार है। पति के प्रति उसकी निश्छलता उसके व्यक्तित्व का उदात्त पक्ष है। किन्तु यही चरित्र-चित्रण यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखें तो पायेंगे कि यह चित्रण कृत्रिमता से मुक्त नहीं और

आदर्श से बोझिल है। हरिप्रसन्न के प्रति प्रबल आकर्षण के विपक्ष में पति में सुनीता की इतनी अत्यधिक आस्था का आधार क्या है? सुनीता और श्रीकान्त का वैवाहिक जीवन कभी भी पारस्परिक प्रेम के आधिक्य से अधिक उष्ण और घनिष्ठ नहीं रहा है। तो पति में इतनी श्रद्धा और इतनी आस्था क्यों? क्या यह लेखक का विवाह-संस्था के प्रति मोह नहीं है? किसी यथार्थवादी लेखनी में निश्चय ही श्रीकान्त और सुनीता का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता। किन्तु जैनेन्द्र एक ओर तो विवाह-संस्था को तोड़ना नहीं चाहते, दूसरी ओर यह भी नहीं चाहते कि दम्पति की ओर से बाहरी तत्त्व (जैसे हरिप्रसन्न) के प्रति विराग या घृणा का व्यवहार किया जाय क्योंकि प्रेम अथवा अहिंसा ही जैनेन्द्र के साहित्य का श्रेय है। यही कारण है कि जैनेन्द्र बाहरी तत्त्व को विरोधी नहीं मानते, साथ ही उसे सम्पूर्णतः स्वीकार भी नहीं करते क्योंकि ऐसा करने से दूसरे व्यक्ति का (पति का) बहिष्कार होगा अथवा समाज में अराजकता फैलेगी। अर्थात् यदि सुनीता हरिप्रसन्न को अस्वीकार करती तो इस आचरण में अप्रेम का भाव रहता और यदि उसे स्वीकार ही कर लेती तो इसका अर्थ होता-उसका श्रीकान्त से सम्बन्ध-विच्छेद, यह भी समानतः अप्रिय और अवाञ्छनीय है। और यदि वह दोनों को ही स्वीकार करती तो यह स्थिति अराजकता का कारण होती। तो ऐसी स्थिति में जैनेन्द्र के नारी पात्र इतने उदात्त हो जाते हैं कि वे पति में अगाध श्रद्धा रखते हुए प्रेमी को शरीर-समर्पण के लिए तैयार हो जाते हैं। किन्तु चूंकि प्रेमी इस इच्छित (Willed) आत्म-समर्पण को स्वीकार नहीं करता, समस्या का हल हो जाता है। यदि 'प्रेमी' के साथ प्रेम और सहानुभूति का व्यवहार न किया जाये तो उसका आहत अहंकार फूत्कार करेगा जो लेखक के लिये अवांछित है।

सुनीता के निरावरण के प्रसंग को लेकर अनेक आलोचकों ने जैनेन्द्र पर अनीति और नग्नवादिता का आक्षेप किया है। किन्तु वास्तव में बात यह है कि निरावरण की स्थिति पर पहुँचाते-पहुँचाते लेखक ने सुनीता के चरित्र को इतना उदात्त बना दिया है कि ऐसा लगता ही नहीं कि पाठक की वासना को उद्दीप्त करने के लिए इस प्रसंग की रचना हुई है। प्रस्तुत घटना का उन्नयन दो साधनों से सम्भव हुआ है—एक तो सुनीता की पति में और विवाह के संस्कार में आस्था और भक्ति की सहायता से, और दूसरे, हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व को समझने पर उसके लिए सुनीता में करुणा और पीड़ा की उद्भूति की सहायता से। सुनीता की चेतना में पति के प्रति उमड़ती हुई भक्ति के चित्र देखिए:—

'आज, दिन फूटने से भी पहले, सब बिसार कर उसने यही काम किया, श्रीकान्त के चित्र के समक्ष होकर उसने अपने आत्मार्पण का स्मरण किया। समग्र रूप से जिसके चरणों में वह अपने को चढ़ा चुकी है, वह यहाँ नहीं भी है तो क्या? उसके लिए तो वही है, वही है, उसके लिए कहाँ वह नहीं है? वह तो अत्यन्त अभ्यन्तर में सदा ही प्राप्त है।'

'अपने चित्त में सम्पूर्ण रूप से उसे धारण करके सुनीता ने मानो अपने अरा-अरा में शुचिता भर ली है। मानो अपने को दे डाल कर वह पूर्ण स्वतन्त्र हो गई। अहंकार का बन्धन अब उसके लिए कहाँ है? वह मुक्त है, क्योंकि विसर्जित है।

'उसका अंग पुलक से भर गया। उस का सब संकोच, सब संशय भाग गया। श्रीकान्त के सम्मुख बैठे-बैठे जब उसकी मुंदी आँखें खुलीं, तब मानो सामने चहुँ ओर उसे प्रीति ही प्रीति दीखी। सब प्रभुमय लगा।'[1]

यह मनःस्थिति जैनेन्द्र के दर्शन में किसी भी व्यक्ति के लिए परम स्थिति है क्योंकि इसमें किसी अन्य के प्रति विद्वेष और विरोध नहीं रहता, अन्य अन्य नहीं रहता क्योंकि सब प्रेममय हो जाता है अर्थात् सत्यमय हो जाता है और सत्य की प्राप्ति ईश्वर के साथ साक्षात्कार है। इस स्थिति में स्थूल नीति के बन्धन खुल जाते हैं और जीवन उत्सर्गमय हो जाता है।

इस प्रकार के निरूपण से सुनीता का चरित्र इतने ऊँचे धरातल पर पहुँच जाता है कि उसके आचरण को (निरावरण की घटना को) साधारण स्थूल दृष्टि से देखा ही नहीं जा सकता।

दूसरी ओर जब वह हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व के मूल तत्त्व को जान पाती है तो उसका हृदय करुणा और पीड़ा से भर जाता है। जिस प्रवृत्ति के कारण हरिप्रसन्न हिंसा के मार्ग को पकड़ बैठा है, उसे मिटाने के लिए, उसकी वासना के निष्क्रमण के लिए वह देह-दान को तत्पर हो जाती है। यह द्रष्टव्य है कि तमाम प्रसंग में सुनीता के व्यवहार में या स्वर में वासना का स्पर्श भी नहीं है।

वस्तुतः उपर्युक्त घटना के पीछे कोई अनैतिक हेतु बिल्कुल भी नहीं है। घटना के विरुद्ध केवल यही कहा जा सकता है कि लेखक विस्तार से काम न लेकर संकेत से काम ले सकता था। निश्चय ही जिस लेखक का संकेत-शैली पर अपरिमित अधिकार है,

---

१: 'सुनीता'—पृ० १४६-५०।

उसकी रचना में इस प्रकार का किंचित् विस्तृत वर्णन परिहार्य हो सकता था। किन्तु वास्तविकता यह है कि 'सुनीता' की रचना के समय जैनेन्द्र की संकेत-शैली पूर्णतः विकसित नहीं हो पायी थी। चरित्र-चित्रण में अवश्य ही इस शैली का पर्याप्त उपयोग मिलता है किन्तु घटनाओं के विवरण और वर्णन में संकेत-शैली के प्रयोग की न्यूनता प्रस्तुत उपन्यास में आदि से अन्त तक बराबर मिलती है। यह बात इस तथ्य से भी पुष्ट होती है कि 'व्यतीत' में जब अनिता द्वारा जयन्त के लिए देह-दान की घटना आती है तो लेखक ने निरावरण की बात को एक दम हटा कर व्यंग्य की प्रधानता रखी है। यदि 'सुनीता' में निरावरण के प्रसंग को अपेक्षित विस्तार से वर्णित किया गया है तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि लेखक में 'सुनीता' के रचना-काल में कौशल की कमी थी, न कि यह कि इसके पीछे लेखक का उद्देश्य अच्छा नहीं था।

हरिप्रसन्न के चरित्र का प्राण-तत्त्व है उसकी काम-अभुक्ति (frustration)। यद्यपि स्पष्ट कथन कहीं भी नहीं है फिर भी ऐसा लगता है कि यह अभुक्ति ही हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व में एक ग्रन्थि बन गई थी। इसी ने उसे क्रान्ति के, हिंसा और विध्वंस के मार्ग पर प्रवृत्त किया। सुनीता के सम्पर्क से पूर्व उसने नारी को उसके औपचारिक रूप में ही देखा था, उसका स्त्री के साथ व्यवहार कभी भी घनिष्ठता के स्तर पर नहीं आया था। किन्तु सुनीता से परिचय पा लेने पर उसकी अतृप्त इच्छाएँ चेतन धरातल पर आने की चेष्टा करती हैं। वह एक बार तो यह भी अनुभव करता है सुनीता श्रीमती सुनीता देवी नहीं है, सुनीता भी नहीं है। सुनीता जैसे उसके लिए 'real woman' है जो उसके व्यक्तित्व को स्पन्दित ही नहीं, उद्वेलित भी कर सकती है। वह सोचने पर विवश होता है कि स्त्री क्या है, पुरुष क्या है, विवाह और नीति क्या है? परन्तु चूँकि सुनीता उसके मित्र श्रीकान्त की पत्नी है, वह नहीं चाहता कि उसके कारण श्रीकान्त का कुछ अनिष्ट हो और वह एकाएक नगर छोड़ कर चला जाता है। किन्तु दल की स्थिति कुछ ऐसी है कि वह श्रीकान्त के यहाँ अज्ञात रूप से अज्ञात समय के लिए रहने पर विवश होता है। वह प्रसन्न है कि सुनीता अपनी माँ के यहाँ चली गयी है। वह श्रीकान्त से भाभी को कष्ट न देने की बात भी करता है। लेकिन सुनीता को तो आना ही है। श्रीकान्त के यहाँ आकर हरिप्रसन्न की सोचने की पद्धति जैसे बिल्कुल ही बदल गई है। उस 'स्टडी-रूम' के बारे में, जिसमें वह ठहराया गया है, वह इस प्रकार सोचता है, "इसी में उसकी ठीक की हुई उन सपतिका भाभी की तस्वीर अब भी रखी है। और क्यों, इस ही कमरे ने (ओह!) उन दोनों (पति-पत्नी) के जाने किन-किन पवित्र रहस्यों, किन-किन क्रीडाओं और स्नेह-वार्ताओं की सुरभि को अपने मर्म में धारण नहीं किया है। आज उसी स्टडी-रूम में अपने बण्डल

के भीतर आदमी को जान लेने वाले ईस्पात के रिवाल्वर को दुबका रखकर वह फिर आ पहुँचा है। नहीं जानता है, क्यों। और मानों वह अपने से लौट-लौट कर पूछना चाहता है—क्यों, रे क्यों?'" एक और स्थल पर भी हरिप्रसन्न इन्हीं शब्दों में सोचता है, "कमरे से बाहर चल कर टहला और फिर वापिस कमरे में आ गया। सोचा कि इस कमरे में फर्श पर ही अपनी दरी डालकर सोऊँगा। तब उसके सिर में घूमने लगा कि नहीं मालूम यह कमरा उन भाभी के किस काम आता रहा होगा?—आज इसी कमरे के फ़र्श पर वह दरी बिछाकर सोवेगा।"[1] यह सोचते हुए हरिप्रसन्न की आँखों में सुनीता की कैसी और किस प्रकार की मानसिक मूर्तियाँ (images) रही होंगी—इसकी आसानी से कल्पना की जा सकती है।

उसके हृदय में उमड़ती हुई वासना की जो घुमड़न है, उसको अभिव्यक्त करना जैसे उसके लिये आवश्यक हो जाता है, और वह अपनी समस्त अनुरक्ति को अपने बनाये चित्र में कील देता है।

सुनीता के प्रति अपनी प्रवृत्ति को देखकर वह आशंकित भी होता है क्योंकि उसे भय है कि इससे देश के और दल के कार्य का अहित होगा। किन्तु शीघ्र ही उसपर अवचेतन मन उसकी प्रवृत्ति को एक ओट दे देता है और वह सोचता है कि क्यों न सुनीता को 'राष्ट्रदेवी', 'चण्डी' और 'माया' बना दिया जाये जिससे दल के युवकों को स्फूर्ति और प्रेरणा मिले। इस विचार को तर्क और युक्ति से, देश के नाम पर, पुष्ट और समृद्ध करता है और सुनीता के सामने जंगल में दल के युवकों से मिलने के प्रस्ताव को सशक्त शब्दों में रखता है।

हरिप्रसन्न के आत्म-हत्या के अभिनय को देखकर जब सुनीता कातर होकर 'दोनों हाथों से हरी की दायीं बाँह को चिपट कर पकड़' लेती है तो 'जो हरिप्रसन्न ने ज़िन्दगी में कभी नहीं जाना, वह इन क्षणों में जाना। उसने थोड़ा-सा सुख जाना।" हरिप्रसन्न सो रहा है और सुनीता पास बैठी है। लेटे-लेटे वह सपने में सोचता है 'कि क्या कहीं ऐसा भी होने वाला है कि भाभी की गोद का तकिया उसे मिले।"

१. 'सुनीता'—पृ० ७४
२. 'सुनीता'—पृ० ८३।
३. 'सुनीता'—पृ० १८३।
४. 'सुनीता'—पृ० १५०।

कुछ देर बाद ही वह "दोनों हाथों से सुनीता की दाहिनी बाँह को खींच कर उस हाथ को अपनी कनपटी के नीचे" ले लेता है जिसका फल यह होता है कि सुनीता का धड़ लेटे हुए हरि के चेहरे के बिल्कुल पास आ जाता है। [1]

हरिप्रसन्न की चेतना पर सुनीता इतनी छा जाती है कि वह अपने दल को संकट में पाकर उसे बचाने की चेष्टा नहीं करता है "क्योंकि मैं अकेला नहीं हूँ, और— प्रेम आदमी को निर्बल बनाता है।" [2] प्रेम की स्वीकृति के बाद वह सुनीता से अलग तो बैठ जाता है क्योंकि सुनीता के मन के विरुद्ध वह कोई ऐसी चेष्टा नहीं करेगा जिससे सुनीता के मन को चोट लगे किन्तु थोड़ी ही देर में प्रकृति अपने समस्त सौन्दर्य से उसे उद्दीप्त करती है और वह सामने लेटी हुई सुनीता के शरीर के साथ स्वतन्त्रता लेने लगता है। किन्तु जब स्वयं सुनीता उसके सामने निरावरण खड़ी हो जाती है तो वह घोर लज्जा का अनुभव करता है और सुनीता के देह-दान को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि वह स्वतः स्फूर्त नहीं है, इच्छित है ?[3]

हरिप्रसन्न का चरित्र-चित्रण सर्वथा वस्तुगत दृष्टि से हुआ है यद्यपि जैनेन्द्र ने उसे एक प्रकार के आवरण से ढक कर प्रस्तुत किया है। कहीं भी हरिप्रसन्न के सम्बन्ध में सब-कुछ और स्पष्ट शब्दों में नहीं कहा गया है। वासना की अतृप्ति के निरूपण की दृष्टि से, जो हरिप्रसन्न के चरित्र की रीढ़ है, यह कहा जा सकता है जैनेन्द्र ने उसका निरूपण बड़े ही सचेत और सजग होकर किया है। किसी निम्न श्रेणी के कलाकार में यही चरित्र वीभत्स और घृणास्पद हो जाता।

श्रीकान्त स्वभावतः सरल और ऋजु प्रकृति का व्यक्ति है। वह अपनी सीमाओं से परिचित है। वह जानता है कि 'विरलों में विरल' पत्नी सुनीता को रिझाने और संतुष्ट करने की सामर्थ्य उसमें नहीं है। वह सुनीता से विवाह होने पर अपने को धन्य मानता है।

अपने मित्र हरिप्रसन्न के सम्बन्ध में उसमें बड़ा उत्साह है। वह जानता है कि 'हरिप्रसन्न में कितनी क्षमता है, लेकिन उस क्षमता से आज दुनिया को क्या मिल रहा

१. 'सुनीता'—पृ० १५१।

२. 'सुनीता'—पृ० १७६।

३. यह व्याख्या स्वयं जैनेन्द्र जी की है और मनोविज्ञान की दृष्टि से उचित भी लगती है।

है ? मैं यही चाहता हूँ कि वह क्षमता उसकी व्यर्थ नहीं जाय। हमारा प्रयत्न हो कि वह समाज के लिए उपयोगी बने।' वह अनुभव करता है कि हरिप्रसन्न के अन्तर में कोई कुण्ठा है जिससे वह इतना अपरिग्रही और वैरागी-सा गया है। उसकी यह चेष्टा है कि हरिप्रसन्न की यह वृत्ति किसी प्रकार कम हो। वह सुनीता से भी अनुरोध करता है कि वह अपने को उसकी (हरिप्रसन्न की) इच्छा के नीचे छोड़ दे और पति के ख्याल को अपने से कुछ दिनों के लिए बिल्कुल दूर कर दे। वह जानता है कि सुनीता और हरिप्रसन्न में पारस्परिक आकर्षण है किन्तु सुनीता में उसे पूर्ण विश्वास है, वह उसे ग़लत नहीं समझ सकता। वस्तुतः वह हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व के सम्पूर्ण विकास के विचार से अनुप्राणित है। "मैं अपने को अल्प-प्राण ही गिनता हूँ। वकालत करता हूँ, गृहस्थी चलाता हूँ। इस तरह के सीमित दायरे अपने चारों ओर लेकर चल सकने वाला हरिप्रसन्न नहीं है। इसलिए मैं सोचता हूँ कि उसको मार्ग देने के लिए हम झुक भी जायें, हट भी जायें तो हर्ज नहीं है।" और इसी प्रकार "मैं उस दिन की प्रतीक्षा करना चाहता हूँ जब हरिप्रसन्न जीवन में कुछ प्रयोजन सम्पन्न क आगे बढ़े, आइडिया दे, और वह आइडिया समाज में उगता हुआ और फैलता ह दीखे। हरिप्रसन्न की प्रतिभा में वह बीज है, लेकिन वह सहानुभूति से सिंचे, त न।" इसके लिए वह सुनीता से अपनी अनुपस्थिति में कुछ दिनों के लिए सम्पूर्ण रू से बिसार देने को कहता है। उसे आशा है कि सुनीता उसे समझती है और अन्यथ नहीं समझती। लाहौर से श्रीकान्त जब लौटता है तो घर पर ताला पड़ा देख क वह कुछ समय के लिए सुन्न-सा हो जाता है किन्तु क्रोध, हिंसा अथवा ईर्ष्या का भा उसके मन में बिल्कुल भी नहीं उठता है। इसके विपरीत वह सुनीता का चिर-कृतज्ञ है क्योंकि सुनीता हरिप्रसन्न के भीतर की गाँठ निकालने में उपलक्ष्य बनी है।

श्रीकान्त जैनेन्द्र के उन पुरुष-पात्रों में से है जिनमें प्रेम और अहिंसा का उनका आदर्श मूर्तिमान है।

यद्यपि 'सुनीता' में चरित्र-चित्रण का अपूर्व कौशल, सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और आदर्शों का सुन्दर प्रच्छन्न उपस्थापन मिलता है किन्तु फिर भी उसमें जैनेन्द्र का कला-सौष्ठव और अभिव्यंजना-शैली अपने पूर्ण उत्कर्ष में प्राप्य नहीं है। घटनाओं के विवरण और परिस्थिति के वर्णन में लेखक ने सूक्ष्म विस्तृत वर्णन-शैली का उपयोग किया है जो उसकी कला का प्रबल और उत्कृष्ट पक्ष नहीं है। वस्तुतः ध्वनि और व्यंजना से काम लेना जैनेन्द्र के शिल्प-कौशल का एक अत्यन्त प्रमुख गुण है। 'सुनीता' और 'विवर्त' ही इसके अपवाद हैं। कथोपकथन का जो चमत्कार

'सुखदा' प्रभृति बाद की कृतियों में मिलता है, उसका 'सुनीता' में लगभग सर्वथा अभाव है। कथोपकथन का प्रयोग इसमें अधिक है भी नहीं। नाटकीय शैली भी एक दो स्थलों पर ही देखने को मिलती है। बार-बार विस्तृत चिन्तन व मनोविश्लेषण के कारण कहीं-कहीं ऊब का भी अनुभव होता है। कुल मिलाकर यह कृति, जिसका प्राण-तत्त्व चरित्र-चित्रण है, शिल्प की दृष्टि से अधिक प्राञ्जल और परिष्कृत रचना नहीं है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में दूसरी श्रेणी में ही 'सुनीता' की गणना की जा सकती है।

त्यागपत्र[1]

जितनी प्रशस्ति और आक्षेपों का पात्र प्रस्तुत उपन्यास को बनना पड़ा है, उस दृष्टि से उतना विवादग्रस्त मूल्यांकन कदाचित् ही हिन्दी औपन्यासिक क्षेत्र में अन्य कृति का हुआ हो। एक ओर डा० नगेन्द्र प्रभृति विद्वानों ने जहाँ 'त्यागपत्र' को सर्वोत्कृष्ट कोटि में स्थान दिया है वहाँ दूसरी ओर नंददुलारे वाजपेयी आदि मूर्धन्य समीक्षकों ने समाज के हिताहित की तराजू पर 'त्यागपत्र' को तोलकर इसके महत्त्व को संदिग्ध बना दिया है।

'त्यागपत्र' की कथा का सार इस प्रकार है :—

मृणाल के माता-पिता दोनों ही काल-कवलित हो चुके हैं। उसका लालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा उसके भाई-भावज अपने पुत्र प्रमोद के साथ ही करते हैं। मृणाल जब यौवन में आती है तो वह सखी शीला के भाई के प्रेम में अपने आपको पाती है। भाई-भावज जब उसके इस सम्बन्ध को जान पाते हैं तो उसे कठोर दण्ड मिलता है और शीघ्र ही अन्यत्र उसके विवाह का प्रबन्ध हो जाता है। मृणाल का पति कुछ अधिक उम्र का है और अधिक पढ़ने-लिखने में अरुचि रखता है। हृदय का वह अनुदार और कठोर है। वैवाहिक सम्बन्ध अच्छे नहीं बन पाते और गर्भावस्था में एक दिन मृणाल एक नौकर को लेकर भ्रातृ-गृह में आ जाती है। अब वह अपने पति के घर वापिस जाने को राजी नहीं है किन्तु उसका भाई उसे पति की नाराजगी में अपने घर रखने के लिए तैयार नहीं है। फिर कभी न लौटने का निश्चय कर मृणाल अपने पति के साथ ससुराल चली जाती है।

१. पाँचवीं बार, अगस्त १९५०। प्रकाशक—नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, कार्यालय, बम्बई।

वहाँ एक दिन शीला के भाई का पत्र आता है जिसमें मृणाल के लिए शुभ-कामनाएँ लिखी हैं। मृणाल यह पत्र अपने पति को दिखाती है और उसे अपने विवाह-पूर्व सम्बन्ध की पूरी कहानी भी सुनाती है। पति पहले ही सशंक था। अब वह अपशब्दों से भर्त्सना करता हुआ उसे घर से निकाल कर खाने-पीने की साधारण व्यवस्था के साथ नगर के एक कोने में एक कोठरी रहने को दे देता है। इस असहाय अवस्था में एक कोयला बेचने वाला बनिया उसकी देख-भाल करता है और क्रमशः उसके रूप के जाल में फँस जाता है। अपनी गृहस्थी से लापरवाह होकर वह मृणाल को एक दूसरी बस्ती में ले जाता है। मृणाल गर्भ धारण करती है। इसी समय प्रमोद उसके पास अपने यहाँ ले जाने के लिए आता है किन्तु वह अपने भाई और भतीजे की सामाजिक मान-प्रतिष्ठा की रक्षा की दृष्टि से लौटने के लिए राजी नहीं होती। कुछ काल बीतने पर वह बनिया मृणाल को वहीं छोड़ कर सब रुपया-पैसा लेकर स्वयं लौट जाता है। मिशनरी में मृणाल एक लड़की को जन्म देती है किन्तु वह अधिक नहीं जी पाती। इस पर मृणाल एक गृहस्थी और स्कूल में अध्यापन का कार्य करती है किन्तु जब वहाँ पर उसके अतीत का पता चलता है तो उसे वहाँ से हटना पड़ता है।

फिर हम उसे वर्षों बाद, नगर के सबसे गन्दे इलाक़े में रुग्णावस्था में पाते हैं। प्रमोद के प्रयत्न करने पर भी वह इस संसार में अधिक नहीं ठहर पाती है और वहीं उसकी मृत्यु हो जाती है।

जैनेन्द्र की मान्यता है कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड में एक ही सत्ता व्याप्त है। वह जीवन में अखण्डता के दर्शनाभिलाषी हैं और इसके लिए चराचर के प्रति प्रेम को आवश्यक समझते हैं। अहिंसा प्रेम का ही एक रूप है तथा अहिंसा की साधना के लिए यातनाओं के तप में तपना उन्हें इष्ट है। 'मानव चलता जाता है और बूँद-बूँद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है।' अथवा 'सचमुच जो शास्त्र में नहीं मिलता, वह ज्ञान आत्म-व्यथा में से मिल जाता है।' स्पष्ट है कि जैनेन्द्र आत्म-व्यथा अथवा आत्म-पीड़न को जीवनादर्श की प्राप्ति के लिए सर्वोपरि मानते हैं। उनका यही सिद्धान्त मृणाल के चरित् में प्रतिफलित हुआ है और प्रमोद भी अपने त्यागपत्र से इसी आदर्श में स्वास्था प्रकट करता है।

पग-पग पर जीवन में अन्याय और अनाचार मिलते रहने पर मृणाल उस असत् के प्रति हिंसात्मक प्रतिक्रिया का आश्रय नहीं लेती। उसका समस्त व्यक्तित्व

अमुक्त वासना से मालोड़ित है, फिर भी वह उसको अभिव्यक्ति न देती हुई तप और साधना के मार्ग का अवलम्ब लेती है।

'त्यागपत्र' की मृणाल के चरित्र-निर्माण पर नीति-अनीति की दृष्टि से सामाजिक हिताहित का विचार कर अनेक आरोप लगाए गए हैं। इनमें अधिकांश जैनेन्द्र के आत्म-पीड़न के सिद्धान्त की अमान्यता अथवा उपन्यास के उद्देश्य-रूप में उसके अस्तित्व के अज्ञान से ही निकले हैं।

क्या मृणाल के लिए कोयले वाले को स्वीकार करना उचित था ?

डा० नगेन्द्र ने अपने 'नारी और त्यागपत्र' शीर्षक लेख में [१] इस प्रश्न का उत्तर अपनी दृष्टि से दिया है। परन्तु मेरा मत इस विषय में पूर्णतया भिन्न है। जैसा कि डा० नगेन्द्र ने कहा है, अतिशय संवेदनशीलता के कारण समग्रत: डूब जाने अथवा समाज के प्रति चैलेंज के रूप में मृणाल इस मार्ग पर क़दम नहीं रखती है। इस विषय में पुष्टि के लिए स्वयं मृणाल के शब्द उद्धृत किए जाते हैं, "मैं जब वहाँ कोठरी में अकेली थी, तब मरी क्यों नहीं, क्या यह जानते हो ? मैंने यह सोचा था और चाहा था कि मैं मर जाऊँगी। ऐसे जीने में क्या है ? लेकिन एकाएक मुझ को पता लग आया कि जिसने जीवन दिया है, मौत भी उसकी दी हुई मैं ले सकती हूँ। अन्यथा अपने अहकार के वश मरने वाली मैं कौन होती हूँ ? भूख से मरना पड़े तो मैं मर भी जाऊँ, पर सोच-विचार कर आत्मघात कैसे कर सकती हूँ ? ऐसे समय उसके तीसरे रोज इसी आदमी ने (कोयले वाले ने) खतरा उठाकर मुझे पूछा था। उस आदमी के यों पूछने में क्या बुराई थी ? शायद मेरे रूप का लोभ तो उसे था, लेकिन उसके लिए मैं उसे दोष क्यों देती ? वह विघ्नों की तरफ अन्धा होकर मेरे पास आया। उसका अपना परिवार था, मेली-जोली थे। उनकी ओर से लापरवाह होकर ताने और धमकी सहकर, पहले चोरी, फिर उजागर, उसने मुझे सहायता दी। उसकी चोरी में मेरा भाग न था।…… …मेरे रूप का लोभ उस पर चढ़ता गया। वह नशा हो आया। मुझे उस समय उस पर बड़ी करुणा आई। प्रमोद, तुम्हें कैसे बताऊँ, तुम बालक हो। लेकिन इस अभागे आदमी का मद उस पर इतना सवार हो गया कि मैं नहीं कह सकती। अपने [illegible] ', अपने कारोबार को भी भूल गया। मेरे लिए सब स्वाहा [illegible] ।……ऐसा त्रास मैंने बहुत कम पाया है। उसका प्रेम [illegible] दुर्विसह्य थी। पर

१. द्रष्टव्य—

उसका दायित्व क्या मुझ पर न था ? और यह भी ठीक है कि उस समय उसका सर्वस्व मैं ही थी। मैं उसके हाथ से निकलती तो वह अनर्थ ही कर बैठता। अपने को मार लेता, या शायद होती तो मुझे मार देता। सच कहती हूँ प्रमोद, कि उस समय उस आदमी पर मुझे इतनी करुणा आई कि मैं ही जानती हूँ। मैं उसके इस भ्रम को किसी भाँति न तोड़ सकी कि मैं उसकी हूँ, उस पर मुग्ध हूँ। ऐसा करना निर्दयता होती, मेरे पास जो कुछ बचा-खुचा था, मैंने उसे सौंप दिया।"

मृणाल का यह वक्तव्य न केवल इस बात का खण्डन करता है कि मृणाल उस कोयले वाले की ओर प्रवृत्त थी, जैनेन्द्र के अहिंसा व आत्म-पीड़न के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करता है। मृणाल जब अपघात करने में भी अहंकार की सत्ता मानती है और इस कारण आत्म-हत्या नहीं करती है तो क्या समाज को 'चैलेंज' देने का भी वह विचार कर सकती है ? इतने ठण्डे मस्तिष्क से की गई विचारणा में प्रति-शाप संवेदनशीलता को भी अवकाश कहाँ है ? कोयले वाले के प्रति निस्सीम करुणा से मृणाल का हृदय आप्लावित है। उसके सुख और जीवन-रक्षा के लिए अपनी अनिच्छा का दमन और आत्मकष्ट मृणाल को स्वीकार है। इसमें समाज के विधान के प्रति विरोध अथवा प्रतिहिंसा की वृत्ति भी नहीं है। "मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटा कि फिर हम किस के भीतर बनेंगे ? या कि किसके भीतर बिगड़ेंगे ? इस लिए मैं इतना ही कर सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।" फिर क्या मृणाल का कोयले वाले के साथ भागना 'समाज को तोड़ना-फोड़ना' नहीं है ? नहीं। वह पति-परित्यक्ता असहाय नारी है। पितृ-गृह में भी उसके लिए स्थान नहीं है, वह समाज की उच्छिष्ट है।' "जो (समाज के) उसके उच्छिष्ट हैं, या उच्छिष्ट बनना पसंद कर सकते हैं, उन्हीं को जीवन के साथ नए प्रयोग करने की छूट हो सकती है।" और वास्तव में आत्म-पीड़न की दृष्टि से उसका यह जीवन-प्रयोग ही तो है।

कोयला बेचने वाले बनिये को स्वीकार करना (पति रहते हुए भी) समाज के नीति-विधान की दृष्टि से अनैतिक हो सकता है किन्तु वह मृणाल की आत्मा का परिष्कार ही है।

एक यह भी प्रश्न उठाया गया है कि 'क्या अधिक सम्मानपूर्ण उपायों का अवलम्बन वह नहीं कर सकती थी।'[१] किन्तु क्या रूप-लोभ के वशीभूत कोयले

---

१. हिन्दी साहित्य—नन्ददुलारे वाजपेयी : लेख 'त्यागपत्र' पृ० १७१।

ले के मृणाल के प्रति घोर राग की उपस्थिति में उसके लिए कोई अवकाश था ? स्तव में इस प्रश्न की सत्ता ही यह मान कर चली है कि मृणाल भी कोयले वाले ी ओर प्रवृत्त थी और यह कि उसके पास कोई अन्य वैकल्पिक मार्ग था। वस्तुतः ता कुछ नहीं है। और फिर कोयले वाले के चले जाने पर क्या वह अधिक सम्मा- त उपाय का अवलम्ब नहीं लेती ? लेकिन, उस मार्ग पर असफल रहने पर उसे र 'घृणित' जीवन में आना पड़ता है।

"मृणाल क्रमशः नैतिक दृष्टि से गिरती हुई जिस नैतिकताहीन समाज में पहुँच ती है, उसके प्रति उसकी अनुरक्ति क्या मृणाल की मानसिक अधोगति का परिणाम हीं है, क्या मृणाल में इस गर्हित समाज के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करने के लिए सकी समस्त सांस्कारिकता को समाप्त कर देना भी लेखक के लिए आवश्यक था ?"[१] न प्रश्नों का उत्तर ऊपर के विवेचन में समाहित है। वास्तव में यह जीवन-दृष्टि ा ही भेद है। कौन सी जीवन-दृष्टि सत्य है, कौन सी मिथ्या—इसकी मीमांसा के लिए ह स्थान समीचीन नहीं है। और फिर एकान्त सत्य किस दृष्टि में हो सकता है ?

'प्रश्न यह है कि लेखक ने कौन सी साधना मृणाल को सौंपी है ? प्रत्यक्ष में न्यास किसी विशेष साधना-पथ का संकेत नहीं करता, तथापि लेखक की दृष्टि मृणाल एक उत्कृष्ट साधिका बनी हुई है।"……"लेखक इस घटना (प्रमोद का य लेने से अस्वीकार करने की घटना) की योजना द्वारा भी मृणाल के चरित्र के कर्ष को बढ़ाता है, उसकी दयनीय दशा के प्रति संवेदना उत्पन्न करता है। समस्त न्यास में इसी भावुक और रहस्यमय प्रणाली के प्रयोग द्वारा हमारी सहानुभूति ची गई है, परन्तु प्रश्न यह है कि मृणाल के चरित्र में वास्तविक गरिमा लेखक हाँ तक ला सकता है ? दूसरा प्रश्न यह है कि मृणाल को बिना वास्तविक चारि- क गरिमा दिए उसके प्रति हमारी संवेदना आकृष्ट करना कहाँ तक स्वस्थ साहित्यिक द्देश्य कहा जा सकता है ?"[२]

स्पष्ट है कि श्रद्धेय वाजपेयी जी या तो आत्म-पीड़न के महत्त्व में मान्यता नहीं ते अथवा उपन्यासकार-विचारक जैनेन्द्र की दृष्टि से इसके महत्त्व का सम्यक् ज्ञान हें नहीं है। आत्म-पीड़न अपने आप में इष्ट नहीं है। वह एक साधना है और साधना एक लक्ष्य होता है। आत्म-पीड़न से अहंता का नाश होता है और अहंवृत्ति का

---

[१] हिन्दी साहित्य—'त्यागपत्र' पृ० १७२—वाजपेयी

[२] हिन्दी साहित्य—'जैनेन्द्रकुमार' पृ० १५६।

विनाश अखण्डता की ओर अग्रसर करता है, उससे आत्म-लाभ और पर-लाभ दोनों ही सिद्ध होते हैं।

यही कारण है कि जज पी० दयाल कहते हैं, "इतनी उम्र बिता कर बहुतों को मरते और बहुतों को जीते देखकर अगर मैं कुछ चाहता हूँ तो वह यह है कि भीतर का दर्द मेरा इष्ट हो। धन न चाहूँ, मन चाहूँ। धन मैल है, मन का दर्द पीयूष है। सत्य का निवास और कहीं नहीं है। उस दर्द की सामार स्वीकृति में से ज्ञान की और सत्य की ज्योति प्रकट होगी।"

यदि हम इसे स्वयं जैनेन्द्र का प्रत्यक्ष वक्तव्य भी मान लें तो अयथार्थ न होगा।

त्यागपत्र की शैली अन्य उपन्यासों की भाँति संकेतों और इंगितों पर निर्भर करने के कारण ध्वन्यात्मक है। साथ ही उसमें अत्यन्त 'तीखापन और वक्रता' है "त्यागपत्र की कहानी जैसे दिल और दिमाग को चीरती हुई आगे बढ़ती है।" "त्यागपत्र की शैली में कठोर निर्ममता है उसके कुछ क्षणों की निर्ममता तो असह्य है।" [१]

"जैनेन्द्र अपनी शैली के प्रति जागरूक हैं: प्रभाव को तीव्र करने के लिए उन्होंने सचेत होकर कोशिश की है। उन्होंने इसीलिए संवेदना के मापक-रूप में सर पी० दयाल की सृष्टि की है। वे प्रभाव को तीव्र करते जाते हैं और पारा धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता जाता है। अन्त में मृणाल की मृत्यु पर, जैसे ताप के सीमा पार कर जाने से यन्त्र टूट जाता है, सर एम० दयाल (पी० दयाल ?) जजी से स्तीफा दे देते हैं। यह उपन्यास शिल्पी का अद्भुत कौशल है।" [१] जैनेन्द्र की कला की इससे अधिक प्रशंसा शायद असम्भव है। इससे आगे वह अतिमानवीय ही हो सकती है।

'त्यागपत्र' जैनेन्द्र की औपन्यासिक कृतियों में सर्वोत्कृष्ट है—यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है। जो अतिरिक्त गुण इस रचना में दृष्टिगत होता है वह है इसका प्रगाढ़ अन्वय—घटनाओं का आकार क्रमशः लघु से दीर्घ, दीर्घ से दीर्घतर और दीर्घतम इतनी एकतानता और सहजता के साथ होता जाता है कि समष्टि-प्रभाव अत्यन्त तीव्र और चिर-स्थायी पड़ता है।

---

१. 'आधी और त्यागपत्र'—डा० नगेन्द्र।

कल्याणी[1]

'कल्याणी' में लगभग 'त्यागपत्र' की ही सी कथन-पद्धति का अनुसरण किया है। कथा आत्मकथात्मक है। प्रथम पुरुष के वाचक (प्रतीक) वकील साहब को लेखक बताने का दावा करता है। कल्याणी वकील साहब की मित्र थी और उसकी कहानी को उनकी (वकील साहब की) मृत्यु के बाद उनके (वकील साहब के) एक रजिस्टर में लिखी पाई गई, कुछ परिवर्तित करके लेखक द्वारा प्रकाशित करवाई गई है। इस 'प्रारम्भिक' की शैली इतना विश्वास जगाने वाली है कि एक बार तो लगता है कि वास्तव में कल्याणी एक जीती-जागती स्त्री ही रही होगी। निश्चय ही लेखक की कथा-उपस्थापन की पद्धति अत्यन्त चमत्कारी है।

कल्याणी धनी सिन्धी परिवार की कन्या है। उसे विदेश में डाक्टरी की शिक्षा मिली है। प्रवास में ही एक अन्य भारतीय पुरुष से उसका घनिष्ठ परिचय हो जाता है। किन्तु उस पुरुष को निराशा ही हाथ आती है। देश वापिस आने पर, एक डा० असरानी कल्याणी से विवाह करने के लिए प्रबल इच्छुक होते हैं। और कोई उपाय न देखकर वह उसके सम्बन्ध में प्रवादों का प्रचार करते हैं। और फिर स्वयं ही कल्याणी के परिवार की प्रतिष्ठा की रक्षा के हेतु उससे विवाह करने के लिए प्रस्तुत होते हैं। विवाह हो जाता है। 'पर विवाह से भी क्या मनोरथ मेरा पूरा हुआ ? ओ, नहीं। पाना चाहा उसको पा नहीं सका। शायद उल्टे बिगाड़ ही सका' (स्वयं डा० असरानी के शब्द)। असरानी दम्पति सुखी नहीं हो सके। वस्तुतः इस का मूल कारण है कि कल्याणी उस पूर्व-परिचित पुरुष को—उसे निराश करके भी—विस्मृत नहीं कर सकी है, विस्मृत क्या वह अभी तक उस पर अनुरक्त है। इसके अतिरिक्त इस असुख के अन्य भी कई कारण हुए। कल्याणी पत्नीत्व प्राप्त करने पर सम्पूर्णतः योग्य गृहिणी के कर्तव्यों को निबाहना चाहती है किन्तु डा० असरानी अपनी 'प्रेक्टिस' को प्राधिकतः सफल न पा कर चाहते हैं कि कल्याणी 'प्रेक्टिस' आरम्भ करे। पर इसके लिए कल्याणी की शर्त है कि एक बार प्रेक्टिस आरम्भ होने पर पति हस्तक्षेप और पर-पुरुष को लेकर पत्नी पर अविश्वास न कर सकेंगे। अब आय बढ़ने लगती है, डा० असरानी पत्नी से अतीव प्रसन्न हैं। किन्तु धीरे-धीरे कल्याणी के विषय में एक डा० भटनागर और एक राय साहब को लेकर लाञ्छनापरक प्रवाद फैलने लगते हैं। शायद ऐसी ही किसी बात को लेकर पति पत्नी को घर से बाहर

1. दूसरी बार अगस्त १९४६। प्रकाशक—नाथूराम प्रेमी, हिन्दी रत्नाकर कार्यालय हीराबाग, बम्बई नं० ४।

निकाल देते हैं। इस पर पाँच-छः रोज कल्याणी न जाने कहाँ रहती है। पता लगता है कि पति ने उसे खूब पीटा है और अब वह एक कोठरी में बन्द है। समाज की आधुनिक ढंग की स्त्रियों की ओर से कल्याणी को पति से प्रतिकार लेने के लिए उकसाया भी जाता है किन्तु कल्याणी डा० असरानी के विरुद्ध कोई प्रयत्न करने को तैयार नहीं है। वह यहाँ तक अस्वीकार करती है कि डा० असरानी ने उसे कभी पीटा भी है। "........हाँ, वह झूठ है। ......नहीं, वह कुछ नहीं। मैं उसको सही नहीं कह सकती, तो वह ग़लत नहीं तो क्या है ? और अगर मेरी ग़लती पर कुछ उन्होंने कह-सुन लिया हो तो क्या वह याद रखने की बात है ?" वह कहती है दोष पति का नहीं है, उसका है। "मेरे बारे में जो भी खोटा सुना हो, सब सही है। मैं निष्पाप नहीं हूँ।" वह दावा करती है कि 'पति मुझे बहुत चाहते हैं।' वह उनके प्रति कृतज्ञ है क्योंकि 'वह साहसी हैं। नहीं तो मैं,—मैं क्या विवाह के योग्य तक थी ?'

यहीं से कल्याणी के चरित्र में रहस्य का आविर्भाव होता है। वह कहती है वह निष्पाप नहीं है। यदि नहीं है तो सपाप भी किस दृष्टि से है ? डा० भटनागर के साथ के अपने सम्बन्ध के विषय में वह स्वयं सब प्रवादों का परिहार कर देती है। और राय साहब से उसका कोई 'अनुचित' सम्बन्ध रहा है, इसका कोई स्पष्ट संकेत आद्यन्त उपन्यास में नहीं मिलता है। अपने प्रति डा० असरानी के दृष्टिकोण का वह स्वयं एक स्थल पर परिचय देती है, "कुछ की कुछ समझी जाने में मुझे दुख नहीं है। वह भी जाने मुझे क्या समझते हैं। लेकिन—खैर।" बस ऐसे ही स्पष्ट करने वाले आवश्यक बिन्दुओं का लेखक विलोप कर जाता है। पति के द्वारा निकाले जाने पर वह कहाँ रही—इसका पता पाठक को कभी नहीं मिल पाता है। "मैं खो गई थी, सो मिल गई और कहाँ रही, सो ? उहूँ, उस वृत्तान्त में जानने की कोई विशेष बात नहीं है।" बस ! और फिर—पति के लिए वह आदर, व श्रद्धा प्रकट करती है लेकिन फिर अन्य स्थल पर यह भी कहती है, 'अपने भाग्य को दुर्भाग्य बनाने वाली क्या मैं ही नहीं हूँ ? मैं तो अपने से ही नाराज हूँ। सोचती हूँ कि मैंने अपना यह क्या कर डाला।" उसका कहना है कि अगर उसे नया जन्म मिले तो वह अपने को इंकार करके न चले, फिर चाहे उसका कुछ भी परिणाम आये हो। वह जीवन का आरम्भ जैसे नये सिरे से करना चाहती है और प्रस्तुत जीवन को ख़तम हुए हुआ समझ मानो उसे यहीं ख़त्म हुआ देखना चाहती है।

इसी समय उसके चरित्र के कुछ और पहलू प्रकाश में आते हैं जो स्वयं आपस में तो सुसम्बद्ध हैं, किन्तु शेष सम्पूर्ण व्यक्तित्व से उनकी संगति नहीं बैठती।

कल्याणी 'आर्य जाति की परम्परा में नारी के गृहिणी रूप को ही प्राधान्य देती है। स्त्री-स्वातन्त्र्य की वह घोर विरोधी है, त्याग और साधना से परिपुष्ट मातृत्व में ही उसकी आस्था है। सामाजिक मर्यादाओं की रक्षा उसकी दृष्टि में श्रेय है। इष्ट देवता श्रीनाथ जी की वह उत्कट भावमयता के साथ भक्त है। एक बार खाती है, चार बार स्नान करती है और दिन में कम से कम चार घण्टे मंदिर को देती है। हफ्ते में दो नहीं तो, एक उपवास तो होता ही है। आत्मा, परलोक, मृत्यु-अतीत सत्ता के प्रति वह जिज्ञासु है। इन्हें हम उसके व्यक्तित्व की अपेक्षा में अनमेल व असंगत तत्त्व न भी कहें, तो भी उसके समान आधुनिक शिक्षा-प्राप्त और वह भी विदेश की भौतिकवादी संस्कृति में—'सोसायटी' की एक युवती के लिए आश्चर्य की उद्बुद्धि तो करते ही हैं। किन्तु क्या ये जीवन-संघर्ष के (जिसका उदय घोर अतृप्ति और असन्तोष के कारण सहज था) अभाव में प्रतिक्रिया के रूप में प्रतिफलित नहीं हुए हैं ? वस्तुतः अपने प्रस्तुत जीवन से वह इतनी निराश हो गई है कि वह अपनी मानसिक धारा को दूसरी ओर मोड़ने के लिए इन बातों की ओर प्रवृत्त होती है।

इसी बीच डा० असरानी धनोपार्जन में अपने को असमर्थ पाकर उपयुक्त सर्वगुण सम्पन्न पत्नी को अनेक विधियों से लोकप्रिय बनाकर ख्याति प्राप्त करते हैं। 'डाक्टर साहब दान देते हैं, सो संस्थाएँ मुझे मान देती हैं। इससे संस्थाओं को लाभ होता है, हमें भी लाभ होता है, परस्परोपकार ! " ……मैं हूँ एक इन्वेस्टमेंट !' कल्याणी इसका कुछ भी प्रतिरोध नहीं करती है। हाँ, अपनी भक्ति-साधना की अवज्ञा करने पर डा० असरानी के प्रति उसके हृदय में आक्रोश की लहर उठती है। वह कह देती है, 'तुम साफ़-साफ़ कह क्यों नहीं देते हो कि तुम क्या चाहते हो ? मुझे तिल-तिल कर बेचना चाहते हो,—सो वह तो हो रहा है। आखिरी साँस तक मेरा बिक जायगा, तब भी मैं इंकार नहीं करूँगी।' कितनी घोर विडम्बना है उसके जीवन में ! एक ओर धर्म-रत उसका तापसी रूप है और दूसरी ओर पति की ख्याति खरीदने के लिए शृंगार की साज-सज्जा।

किसी साहित्य-सभा की ओर से कल्याणी असरानी को उनके कवयित्री-व्यक्तित्व के लिए मानपत्र देने का आयोजन होता है। किसी मरीज को देखने जाने के कारण—संकेत मिलता है डाक्टर भटनागर की स्त्री ही मरीज है—कल्याणी आयोजन में पहुँच नहीं पाती हैं। डाक्टर असरानी इस विफलता से (पत्नी के प्रति सन्देह भी शायद है) इतने क्रुद्ध होते हैं कि बीच बाजार में ताँगे से कल्याणी को उतार कर जूतों तक से उस मारते हैं। कल्याणी बाह्यतः फिर भी प्रशान्त है किन्तु

अब वह सदा मृत्यु के ही शब्दों में सोचती है। "मैं क्यों जीती हूँ ? बताइए, मैं क्यों जीती हूँ ?" "आप नहीं बता सकते। लेकिन मैं बताती हूँ। मैं इस पेट के बच्चे के लिए जीती हूँ।" "बस यही अभागा है जो मुझे मरने नहीं देता। मैं मरी तो वह भी नहीं जनमेगा। इससे मैं मर भी तो नहीं पाती।" पर साथ ही वह विश्वास भी दिखाना चाहती है, "हाँ, कहती हूँ। मेरे बारे में आप गलत हैं। मैं दुखी नहीं हूँ।"

इन्हीं दिनों कल्याणी को ऐसा लगता है कि रात में उसके घर में प्रेत आते हैं। वह देखती है कि एक 'अतिशय सुन्दरी', 'इकहरे बदन की', 'गर्भवती' स्त्री की हत्या एक पुरुष द्वारा की जा रही है। वह विश्वास करती है कि इस घर में पहले कभी किसी स्त्री की हत्या की गई है और अब उस अस्वाभाविक मृत्यु के कारण उस स्त्री का प्रेत उस घर में चक्कर लगा रहा है। वह अपने एक नये मित्र देवलालीकर पर,— जिसके सम्बन्ध में वह जान पाती है कि वह कई वर्ष पहले इसी तरफ रहते थे और उनकी स्त्री की जो सुन्दरी थी, दुश्पन से दिक होने के कारण, कई वर्ष हुए मृत्यु हो गई थी,— उस पुरुष का आरोप करती है जिसको उसने अपने घर में रात के समय उस प्रेत-स्त्री की हत्या करते देखा है। किन्तु वास्तव में ऐसा हुआ नहीं है। कल्याणी के अचेतन मन में अपने पति के विरुद्ध इतना द्वेष और कुण्ठा उत्पन्न हो चुकी है कि उसकी चेतना को 'हैल्यूसिनेशन' जकड़ लेती है। वह देखती है कि उसके घर में किसी स्त्री की अपने पति द्वारा हत्या की जा रही है। वस्तु हत्या की शिकार वह 'गर्भवती' स्त्री और कोई नहीं है, स्वयं कल्याणी है। कि चूँकि कल्याणी की सस्कार-ग्रस्त नैतिक भावना इतनी प्रबुद्ध है कि वह अपने पति प इस प्रकार का आरोप नहीं लगा सकती, उसका चेतन मन यह विश्वास करना चाह है कि वह पुरुष देवलालीकर है जो स्त्री की हत्या करता है। इसके अतिरिक्त देव लालीकर की ओर उसकी जो प्रवृत्ति हो रही है, उसको भी तो अपनी नैतिक चेतन (Super-ego) को समझाने के लिए उसे गलत सिद्ध करना आवश्यक था। इस 'हैल्यूसिनेशन' से यह सर्वथा स्पष्ट है कि कल्याणी इस असंतुष्ट जीवन में कितनी प्रखर यन्त्रणा भोग रही है। वह स्पष्ट अभिव्यक्त करती है, "फिर मैं क्या करूँ ? नशा करती हूँ, तो कौन कहने वाला है कि क्यों करती हूँ ? धर्म भी किया है, पर करके देख लिया है। उससे क्या हुआ ? तबियत होती है कि सब फाड़ दूँ। सब फेंक दूँ। मैंने ईश्वर में विश्वास किया। मैं उसकी राह चली। इस घड़ी तक चली। चलते-चलते मेरे सामने पड़ते हैं ये देवलालीकर। बचकर मैं कहाँ जाऊँ ? उनके सामने पड़ने पर और राह मुझे बन्द है। ईश्वर की राह पर अनीश्वरता मिलती है, तब मैं क्या करूँ ? इससे अब मैं कहती हूँ कि अच्छा, यही हो। मैं भी अब और

छ नहीं चाहती। मैं निराली नहीं हूँ। मेरा मन जानता है, मैं लाचार हूँ। तो नशा ो करूँगी। मैं सब भूल जाना चाहती हूँ। मैं नफ़रत करना चाहती हूँ। अपने से, सबसे। ईश्वर प्रेम है और प्रेम प्रवंचना है। इससे ईश्वर प्रवचना है।"

इन्हीं दिनों……के प्रीमियर दिल्ली आने वाले हैं। प्रीमियर विदेश के वही मित्र हैं जिनको कल्याणी से निराशा मिली थी। अभी तक वह अविवाहित हैं। ज़िंदगी भर शायद अविवाहित ही रह जायें। उनके आगमन पर उनकी अभ्यर्थना का प्रबन्ध करना है कल्याणी को—पति की ओर से अनुनय है। उनका कहना है कि प्रीमियर का हमने खुश रक्खा तो पहले साल ही पचास हज़ार बन जायगा। आगे दूसरे ठेके के काम में और अधिक भी बन सकता है।' कल्याणी इसे अपने 'स्नेह-संबंध को जुए पर लगाना' समझती है। 'मेरा तो लाज के मारे मरने को जी चाहता है।' किन्तु फिर भी कल्याणी अपने पति की इच्छा के विरुद्ध नहीं जाती। बड़ा ही शानदार आयोजन किया जाता है। पर कल्याणी का हृदय कभी भी उल्लसित नहीं हो पाता। प्रीमियर मित्र उसकी इस मन.स्थिति को देखकर अधिक नहीं ठहर पाते हैं। कल्याणी भी अधिक नहीं ठहर पाती है। पुत्र के जन्म के बाद वह 'स्वस्थ थी, प्रसन्न थी। लेकिन कुछ देर बाद अचानक हृदय की गति बन्द हो गई। अचानक ? शायद—चलो, खेल समाप्त हुआ।'

किन्तु कहानी इतनी सरल और स्पष्ट नहीं है। वकील साहब के माध्यम से ही कल्याणी के व्यक्तित्व का परिचय हमें मिलता है। वकील साहब स्वय कभी कल्याणी के विषय में जानने का प्रयत्न नहीं करते हैं। श्रीधर—उनके एक मित्र—जो समाचार लाते हैं उन्ही से कथा में प्रगति आती है, या फिर स्वय कल्याणी की मुलाकातों से जो कुछ मालूम होता है, वही यहाँ दिया गया है। वकील साहब को स्वयं ही कल्याणी से शिकायत है कि वह 'चार में तीन हिस्से बात अनकही रख कर सिर्फ एक हिस्सा' कहती हैं और उस पर समझती है कि [illegible] काफ़ी हो गया। मानो कि मेरे लिए अनकही तीन हिस्सा बात तो [illegible] हिस्सा कहने का जो कष्ट किया जा [illegible]

हो।' [illegible] क्या करें, उन्हें तो [illegible] नेन्द्र अपनी कला के [illegible] कौशल है। एक [illegible] है। अस्पष्टता उसे नहीं [illegible] में सकेत मिलते

जाते हैं, केवल आवश्यकता अत्यधिक अनन्यमनस्कता की है। कथा एक सिलसिले में नहीं चलती है। काल-विपर्यय की पद्धति का आंशिक प्रयोग किया गया है। कल्याणी के भूतपूर्व जीवन के सम्बन्ध की सब बातें धीरे-धीरे कर के आगे-पीछे कथा के उत्तर भाग में घुसती है। यह अन्त में ही पता लगता है कि विदेश में बैरिस्टर-डॉक्टर मित्र को निराश करने के कारण ही आज उसे अवसाद और अतृप्ति है। वस्तुत यही तत्त्व कहानी को रहस्य के आवरण से ढकता है। कल्याणी में जितने भी अन्त-विरोध मिलते हैं, उनका कारण है आदर्श और प्रवृत्ति का संघर्ष। एक ओर तो वह अपने पति के प्रति आदर्श पत्नी बनने की आकांक्षा रखती है, और दूसरी ओर अपने मन की निराश प्रेमपरक प्रवृत्तियों के कारण सन्देहजनक आचरण करती है।

डा० असरानी का चरित्र जैनेन्द्र के उपन्यासों में अद्वितीय है। उनके चरित्र के दो प्रधान सूत्र हैं—कल्याणी और धन के प्रति गहरी आसक्ति। कल्याणी के प्रति वह इतने आसक्त थे, प्रेम उसे नहीं कहा जा सकता, कि उससे विवाह करने की अपनी कामना पूरी करने के लिए वह उसके विषय में लांछन फैलाने में भी झिझके नहीं। वह नहीं सह सकते कि कल्याणी किसी अन्य पुरुष की ओर प्रवृत्त हो। इस असाधारण आसक्ति के कारण ही, सुसंस्कृत होने पर भी, वह उसे पीट भी सकते हैं। और ध[न] के प्रति उनकी इतनी लिप्सा है कि कल्याणी को exploit करने में उन्हें कोई अंत[:]करण की चुभन नहीं। कल्याणी से एक बार झगड़ा करने पर भी, धन के हेतु व[ह] उससे प्रसन्न हो सकते हैं।

दार्शनिक जैनेन्द्र के व्यक्तित्व से उपन्यासकार जैनेन्द्र इस उपन्यास में भी अछूते नहीं रह गए हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है। यह चिन्तन अन्य उपन्यासों की तरह सब तरफ़ बिखरा या सर्वत्र व्याप्त नहीं है। 'कल्याणी' में दार्शनिक विचार मुख्यतः दो-एक स्थलों पर केन्द्रित हो गए हैं। इस प्रकार कथा की गति, एक प्रकार से, अबाध रही है।

करुणा की जितनी तीव्र अन्तर्धारा जैनेन्द्र की इस रचना में बहती मिलती है उतनी कदाचित् अन्य किसी उपन्यास में नहीं। कल्याणी अपने रहस्यमय किन्तु कारुणिक व्यक्तित्व से पाठक की चेतना पर इतना गहरा प्रभाव छोड़ती है कि उसके नैतिक-अनैतिक पक्ष को वह स्थूल रूढ़ि-ग्रस्त भावना से जाँचना ही नहीं चाहता। कल्याणी के प्रति उसमें सहानुभूति और करुणा की ही उद्भूति होती है।

सुखदा[1]

'त्यागपत्र' की भाँति ही उपन्यासकार ने इस कथा को भी नाटकीय ढंग से उपस्थित किया है। 'प्रारम्भिक' में वह अपने चातुर्यपूर्ण वक्तव्य से विश्वास दिलाना चाहता है कि कहानी गल्पमात्र नहीं है अपितु सुखदा देवी नामक व्यक्ति की स्वयं लिखित आत्मकथा है और 'सुखदा' और कुछ नहीं है केवल उन्हीं के लिखे पृष्ठों का प्रकाशन है। कथा पूर्व-दीप्ति (flash back) की पद्धति से प्रस्तुत की गई है। अतीत की स्मृति को लिपिबद्ध करने का इसमें प्रयास है। जो कुछ भी सामने आता है, वह सुखदा देवी के माध्यम से ही।

सुखदा बड़े घर की बेटी है, स्नेह से लालित-पोषित। १५० रुपये माहवार पाने वाले पुरुष से उसका विवाह होता है। प्रारम्भ में पति से प्राप्त स्नेह और प्रणय से वह खूब मुग्ध होती है किन्तु फिर जब जीवन की वास्तविकताओं का सामना करना पड़ता है तो मन में असन्तोष और अभाव की लहरें उठती हैं। तभी सहसा एक अप्रत्याशित घटना से सुखदा सामाजिक और राजनीतिक कार्य-क्षेत्र की ओर प्रवृत्त होती है। पारिवारिक असन्तुष्टि से इस प्रवृत्ति को समर्थन ही मिलता है। पति-पत्नी में विरोध बढ़ता जाता है। पत्नी को पति का जीवन सामान्य और अर्थहीन लगते लगता है। वह एक क्रान्तिकारी संघ की उपाध्यक्षा चुनी जाती है। सार्वजनिक सभाओं में भाषण के अवसर उसे मिलते हैं। संघ के कार्य में लाल से सुखदा का परिचय होता है। लाल के मुक्त, स्वच्छन्द और रहस्यात्मक चरित्र से वह आकृष्ट होती है। किन्तु पति कान्त को लाल की देश-भक्ति में विश्वास नहीं है और इसी बल पर वह सुखदा में लाल के प्रति किंचित् विरक्ति का भाव उत्पन्न करने में सफल होता है। किन्तु तभी लाल को उसके दल की ओर से मृत्यु-दण्ड सुनाया जाता है और इस अवसर पर वह सुखदा की सहानुभूति जीत लेता है और उसके हृदय में प्रेम को जागृत करता है। जब कान्त को यह पता लगता है कि लाल सुखदा से प्रेम करता है तो उसे यह मान्य नहीं है कि सुखदा यह अनुभव करे कि वह विवाहिता होने के कारण लाल से प्रेम नहीं कर सकती। सुखदा के प्रति अधिकार की भावना उसमें पहले भी नहीं थी, अब तो वह उसको और भी अधिक स्वतन्त्रता देने को तैयार है। अपनी असुविधाओं और पीड़ा को अमान्य करते हुए वह लाल के कमरे में सुखदा के अलग रहने का सर्वतः सुविधापूर्ण प्रबन्ध करा देता है। उधर लाल

---

१. पहला संस्करण, सन् ५३ पूर्वोदय

धाराओं में संघर्ष होता है और अन्त में हरीश संघ का विघटन कर देता है। सुखदा जब बहुत दिनों बाद अपने घर को बुरी दशा में देखती है तो कान्त के साथ ही रहने लगती है लेकिन फिर एक ऐसी दुर्घटना घटती है कि पति-पत्नी का सम्बन्ध फिर टूट जाता है। हरीश के ही आग्रह पर कान्त मुखबिर बन कर पुलिस के हाथों हरीश को पकड़वा देता है। सुखदा जब इस घटना से अभिज्ञ होती है तो पति से क्रुद्ध होती है, उसे लज्जित करती है। लाल के प्रति सुखदा में अभी तक अनुरक्ति है लेकिन वह तो पहले ही नगर छोड़ चुका था। सुखदा के लिए अब कान्त के साथ रहना असह्य है, वह अपनी माँ के पास चली जाती है।

फिर क्या होता है, पता नहीं। वर्षों बाद सुखदा, 'इतनी ऊँचाई पर चीड़ के वृक्षों से घिरे अस्पताल में' क्षय की रोगिणी है। अपने अतीत के लिए उसमें अनुताप है। परलोक-सम्बन्ध में, 'शायद नरक वहाँ मेरे लिए तैयार हो।' उस में अब कुछ शेष नहीं रह गया है। मृत्यु अब दूर नहीं है। ऐसी दशा में 'वक्त काटने के लिए कहती हूँ। सच कहूँ तो मुझ में लोभ बना है कि कभी यह कहानी छपे और लोगों की नजरों में आवे। ऐसा हुआ और लोगों की करुणा मुझे मिली तो आशा करती हूँ कि अपने परलोक में मुझे सान्त्वना पहुँचेगी।'

इस प्रकार लगता है कि उपन्यास में लेखक ने चिर-काल से विवेच्य समस्या को लिया है कि नारी का घर की सीमा का अतिक्रमण करके सार्वजनिक होना कहाँ तक समीचीन है। किन्तु यदि गहरे जायें तो स्पष्ट हो जायेगा कि इस प्रश्न का समाधान तो रूपक मात्र है, केवल आवरण मात्र है मूल प्रश्न तो यह है कि क्या विवाह में एक पक्ष का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखना अथवा कहे अपने 'अहम' को दूसरे में विलीन न करना श्रेय है, अपेक्षित है। क्या एक विवाह दो व्यक्तियों के एकीकरण का प्रतीक नहीं? अथवा मूलतः क्या 'अहम्' का जागरूक और प्रबुद्ध होना सुख और कल्याण की दृष्टि से अवाञ्छित नहीं? जैनेन्द्र गांधीवादी विचारधारा में आस्था रखते हैं, 'अहम्' को गलाना ही उनका ध्येय है और इसके लिए एक मात्र साधन आत्म-पीड़न को ही मानते हैं।

'सुखदा' में सुखदा का चरित्र समस्या के एक पक्ष का प्रतिनिधि है और सुखदा के पति कान्त का, दूसरे पक्ष का।

सुखदा का जन्म एक सम्पन्न घर में हुआ है। शिक्षा यद्यपि उसे विशेष नहीं मिली है किन्तु उसे अभावमान्य कर दिया जिस पर उसे गर्व है। यौवन में वह बड़ी

भावुक रही है, भविष्य के लिए उसने बहुत सी कल्पनाएँ बाँधी हैं। किन्तु १५० रुपये माहवार पाने वाले पुरुष से उसका विवाह होता है। प्रारम्भ में वह पति से प्राप्त स्नेह व प्रणय से विभोर हो जाती है "लेकिन तब शनैः शनैः मैं अपने पति के प्रेम और आदर को अनायास भाव से स्वीकार करने लगी मानो वह मेरा भाग हो है।" मधुर भाव जैसे तिरोहित होने लगे और "अपनी स्थिति में तरह-तरह के अभाव नजर आने लगे।" पति से तादात्म्य क्षीण होता गया, जीवन के प्रति असन्तोष और आक्रोश के भाव मन को घेरने लगे। कुलीनत्व और लावण्य की गर्वाग्नि में अतृप्ति की आहुति पड़ी तो पति से जब-तब अनबन रहने लगी। "विवाह के कोई डेढ़ वर्ष बाद पहला बालक हुआ। अब मैं गिरस्तिन हो थी, फिर भी मन अतृप्त था। स्वप्न लेना मेरा बन्द नहीं हुआ था। गिरस्ती चलत थी, बच्चों को प्रेम से पालती थी पर मन को सन्तोष न था।" असन्तोष से ही विसवादिता का भाव उत्पन्न हुआ, 'अहम्' सजग हुआ और सुखदा को अपनी स्वतन्त्र सत्ता का भान हुआ। इसी समय एक अद्भुत घटना घटी जिससे प्रेरित होकर सुखदा ने बाहर के जगत् से परिचय बढ़ाया। सुखदा ने एक लड़का नौकर रखा था, उस लड़के का सम्बन्ध किसी क्रान्तिकारी दल से था। कुछ दिनों में पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया। इस युवक के आदर्श से सुखदा में समाज और देश के प्रति दायित्व की भावना सचेत होने लगी। 'अहम्' की अभिव्यक्ति के लिए राह मिली। अपनी ही आँखों में उसका महत्व बढ़ा। देश पर अर्पित हो जाने वाले युवकों की तुलना में पति "नीरस" और 'सामान्य' और "कायर" दिखाई पड़े। स्वतन्त्र व्यक्तित्व की भावना मुखरित होने लगी। "... बाद से हमारा गृहस्थी का संयुक्त जीवन अनायास दुर्बल होने लगा। ... अपना दायरा बना और फैला।" "जी में था कि देखूँ और दिखाऊँ कि मैं ... सकती हूँ, कि मैं क्या हूँ।" "घर की दासी जो स्त्री बन सकती है, वह मैं ...

अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का संस्थान समझती है, पति का परिहास सुखदा सह नहीं सकती। छोटी-सी घटनाओं से ही उसके 'अहम्' को चोट लगती है। संघ के नेता हरीश के सामने वह यह कैसे स्वीकार करले कि उसके पति को भी उसके (सुखदा के) सम्बन्ध में बुरा लगने का अधिकार है। उसने भमक कर कहा, "मैं स्वाधीन हूँ।" सुखदा का कहीं जाना कान्त को बुरा नहीं लगता। वह सुखदा से कहता है, "मुझ को हिसाब में लो हो क्यों ? जो तुम्हारी जिन्दगी है उसे पूरी तरह स्वीकार करो। मुझे इसी में खुशी होगी। मेरी अपेक्षा तुम्हें तनिक भी इधर से उधर करने की नहीं है। तुमको तुम न रहने देकर मैं क्या पाऊंगा ? तुमको पाऊंगा तो तभी जब तुम हो। इसलिए सुखदा, सभी संशय मन से निकाल दो।" सुखदा की इच्छा है कि उसका पुत्र नैनीताल में शिक्षा पाये और वहाँ ऐसे रहे 'जैसे अन्य धनीमानी व्यक्तियों के बच्चे रहते हैं।' वह अपने जेवर बेचने के लिए तैयार है. स्वयं मजदूरी करने में भी उसे झिझक नहीं है। कान्त को यह बात पसन्द नहीं, आर्थिक और नैतिक दृष्टि से वह इसे अनुचित समझता है। लेकिन सुखदा में विसवादिता की वृत्ति है, वह दबना नहीं चाहती है। उसने इच्छा की है तो पूरी होनी चाहिए। लेखक ने उसकी मनोवस्था को उसी के शब्दों में सूक्ष्म विश्लेषण के साथ चित्रित किया है—"मैं नहीं समझ सकती कि उस क्षण मैं क्या चाहती थी। शायद मैं जीतना चाहती थी, हर किसी से जितना चाहती थी। क्या वही हार का माव भीतर था कि जीत की चाह ऊपर इतनी आवश्यक हो आई थी ? वह सब कुछ मुझे नहीं मालूम। लेकिन दुर्दम गर्वत्व के संकल्प मेरे मन में सहसा चारों ओर से फूट कर लहर उठे। अपनी परिस्थिति और अपनी नियति को सब मर्यादाओं और बाधाओं को छोड़ कर ऊपर उठ चलना होगा, ऊपर और ऊपर। कुछ मुझे रोक न सकेगा, कुछ लौटा न सकेगा। ऐसा मालूम होने लगा जैसे जो है सब तुच्छ है, सब शून्य है. मेरी उद्दामता के आगे सब विवश हो बना है। उस समय मेरे स्वामी, जड़ित और चकित, मुझे असदार्थ लग आये।" कितनी प्रतिहिंसात्मक सशक्त अभिव्यक्ति है 'अहम्' की।

दूसरी ओर, कान्त जानता है कि सुखदा लाल के प्रति आकृष्ट हो रही है और इस पर उसके व्यवहार में दुख और ईर्ष्या भी झलक आती है लेकिन फिर भी वह नहीं चाहता कि सुखदा पर अधिकार दिखाये। '—तुम्हारा मुझ से विवाह हुआ है, हरण तो नहीं। विवाह में जो दिया जाता है वही आता है, पराधीनता किसी ओर नहीं आती। सुनो सुखदा, स्वतन्त्रता तुम्हारी अपनी है और कहीं आने-जाने में मेरे खयाल से रोक-टोक मानना मुझ पर आरोप डालना है मुझसे पूछो तो तुम्हें आने में प्रतिरोध मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।" उसके विचार में विवाह में समर्पण

सहज होता है, सायास नहीं। जो मनायास नहीं वह समर्पण नहीं दूसरे के व्यक्तित्व का दलन होता है। कान्त के ये विचार सुखदा के मर्म को छूते तो हैं और सुख भी देते हैं "लेकिन अपने और अपनों के साथ जुड़ते ही उनका रूप बदल जाता था।"

कान्त को अब सुखदा और लाल के प्रेम का निश्चित प्रमाण मिलता है तो उसके हृदय में कहीं भी विरोध नहीं उठता, वह अपने में सुखदा अथवा लाल के प्रति प्रतिकार की भावना नहीं पाता। वहाँ तो सुखदा के लिए केवल सहानुभूति, करुणा और सद्भाव ही है। वह नहीं चाहता कि 'सुखदा एक पत्नी है, इससे उसके लाल से प्रेम करने की राह में कोई अवरोध आए। वह जानता है कि उसमें और सुखदा में तादात्म्य होने के लिए अब कुछ भी शेष नहीं रह गया है। सुखदा के लिये लाल के कमरे में अलग रहने के लिये वह प्रसन्न भाव से पूरा-पूरा प्रबन्ध कर देता है। अब सुखदा के प्रति उसमें स्नेह और प्रेम उतना नहीं जितना आदर और सम्भ्रम है उस समय सुखदा लाख-लाख धिक्कार अनुभव करती है लेकिन मान वह नहीं छोड़ सकती। "मैं ही मुड़कर उनके समक्ष एक साथ नत-नम्र कैसे जा बनूँ।" हरीश की सुरक्षा के लिए भी अपने मान के कारण वह अपने घर न जा सकी। बाद में जब वह लाल और हरीश के साथ अपने घर पहुँचती है तो अपनी देख-भाल के अभाव में घर की दुर्दशा को देखकर जैसे उसमें पत्नीत्व फिर जाग आया हो। वह सब कुछ, बिना प्रतिरोध के, वहीं रहते हुए स्वीकार करने के लिए तैयार हो जाती है लेकिन फिर भी वह अपने 'मुखबिर' पति के प्रति सदय और सद्भावनापूर्ण न हो सकी। हरीश को पकड़वा देने के कारण वह पति का बड़ा अपमान करती है यद्यपि "जानती थी कि पति लज्जित हैं, जानती थी कि उन्होंने कुछ नहीं किया सब भाग्य के आधीन हुआ है, जानती थी कि जो हरिदा के मन में बँध गया था उससे अन्यथा नहीं हो सकता था।" वह पति से तादात्म्य का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकी और पतिगृह छोड़कर माँ के यहाँ चली जाती है।

जैनेन्द्र जी इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो सके। 'अहम्' को घुलाना अहिंसा की चरम स्थिति है और वह यातना और पीड़ा में ही सम्भव है। सुखदा भी दुर्दान्त आत्म-पीड़ा को सहती है और उसमें 'अपने' को, अपने 'अहम्' को मिटाने का प्रयास करती है। इसका पूर्ण विवरण तो हमें नहीं मिलता लेकिन वर्षों बाद जब वह इस कथा को लिखती है तो उसकी मनः स्थिति से यह प्रकट हो जाता है कि आज उसके मन में अपने किए कर्मों के लिये, अपने मान और गर्व के लिये घोर अनुताप है। "विनम्रता एक बहुत बड़ा बल है, यह तो अब सब भुगत कर जानी हूँ जब कि

मेरे हाथ कुछ नहीं रह गया है, सब बीत गया है और जीवन की बाजी एक दम छुट गई है।" किन्तु सुखदा का 'अहम्' अभी पूरी तौर से धुला नहीं है। क्षय रोग से ग्रस्त किसी पहाड़ पर जब वह अस्पताल में है तो कोई तीन वर्ष बाद पति का पत्र सुखदा को मिलता है। पत्र का उत्तर वह सीधे पति को नहीं दे सकी, माँ को दिया। "मुझ से क्यों न हो सका कि अपने पति से झुककर लाख-लाख क्षमा माँग लूँ। लिख दूँ कि तुम तुरन्त आ जाओ जिससे कि तुम्हारे चरणों की धूल अपने माथे में लगाने को पा सकूँ, नहीं तो हर घड़ी मैं अन्त की ओर सरकती जा रही हूँ। मैं वह कुछ भी नहीं लिख सकी।"

कथानक के अधिकांश में हिंसा के सूक्ष्म रूप अहम्मन्यता का सुखदा के व्याज से बारीक विवेचन करते हुए लेखक ने हिंसा के स्थूल पक्ष की ओर भी गौण रूप से ध्यान दिया है। इसीलिये उसने हरीश, लाल, प्रभातादि क्रान्तिकारी पात्रों की उद्भावना की। यद्यपि इन क्रान्तिकारियों की सृष्टि उपन्यास के मूल कथानक की दृष्टि से अनिवार्य और आवश्यक नहीं थी लेकिन अहिंसावादी उपन्यासकार कथा के माध्यम से हिंसा का साधन लेकर चलने वाली क्रान्ति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने के लोभ का संवरण नहीं कर सका। लाल क्रान्तिकारी न भी होता, एक सामाजिक कार्यकर्ता ही होता, हरीश और प्रभात के चरित्रों का सर्जन न भी होता तो चल सकता था। यही नहीं कि कथा की पृष्ठभूमि उतनी जीर्ण-शीर्ण और 'ऐतिहासिक' नहीं लगती जितनी आज लगती है और उपन्यास का संयुक्त प्रभाव भी कहीं अधिक गहरा पड़ा होता, इसके अतिरिक्त इन क्रान्ति-सम्बन्धी तत्त्वों के कारण लेखक क्रिया-कल्प की दृष्टि से असन्तुलन खो बैठता है और ये तत्त्व गौण न रहकर कथा में उभरने लगते हैं और जैसे भार रूप लगने लगते हैं। जैसे लाल और हरीश के लम्बे-लम्बे संवाद, प्रभात और सुखदा के कथोपकथन। लेकिन ऐसे स्थल दो-चार ही हैं और वह भी आंशिक रूप में। कथा का क्रान्ति-सम्बन्धी अंश मन्मथनाथ गुप्त को कुछ इतना अधिक लगा कि उन्हें भ्रम हो गया और 'सुखदा' उन्हें "क्रान्तिकारी दल के इर्दगिर्द एक रोमांस की रचना लगी।[1] स्पष्ट है कि गुप्त जी उपन्यास की आत्मा को नहीं पा सके। कथा की अन्तर्भूत विचारधारा उनके सामने उभर कर नहीं आयी। यह ठीक है कि हिंसात्मक क्रान्ति में विश्वास रखने वाले कई व्यक्ति इस उपन्यास के पात्र हैं और उनका और उनके राजनीतिक विचारों का काफी विस्तृत चित्रण कथा में हुआ है, लेकिन फिर भी हिंसा के स्थूल रूप की विवेचना अथवा निन्दा करना उपन्यासकार का 'सुखदा' में मुख्य ध्येय नहीं है। मुख्य उद्देश्य तो

१. लेख 'हिन्दी साहित्य', 'सरिता' फरवरी '५४

अहिंसा की स्थापना के लिए 'अहम्' को आत्मपीड़ा मे घुला देने के सम्बन्ध में अपने विचारों का प्रतिपादन है। गुप्त जी ने आगे लिखा है। "सुखदा की कहानी का एक रुख यह भी है कि स्त्रियां घरों में रहें, उन्हें बाहर के कर्म-क्षेत्र में आने की कोई आवश्यकता नहीं है।" जैनेन्द्र का 'सुखदा' में यह मन्तव्य कभी नहीं रहा। सुखदा के सार्वजनिक कर्मों का सबसे अधिक विरोध उपन्यासकार सुखदा के पति कान्त से ही करा सकता है किन्तु तमाम कथा में कान्त ने कभी भी सुखदा की इस विषय में आलोचना नहीं की है। जिस किसी चीज के प्रति उसने विरोध प्रकट किया है तो वह है सुखदा और अपने बीच में 'अहम्' की सत्ता का, तादात्म्य के अभाव का। सुखदा कान्त से पूछती है कि तुम्हें मेरा कहीं जाना क्यों बुरा लगता है ? कान्त उत्तर देता है, "ठहरो सुखदा ! बुरा मुझे नहीं लगता, लेकिन तुम अपने से नाराज क्यों लौटती हो ? अपने विश्वास पर विश्वास क्यों नहीं रखती ? और मेरे विश्वास पर भी विश्वास रख सकती हो। यह आए दिन के द्वन्द्व क्यों ? मुझ को हिसाब में तुम लो ही क्यों ? जो तुम्हारी जिन्दगी है उसे पूरी तरह स्वीकार करो। मुझे इसी में खुशी होगी। मेरी अपेक्षा तुम्हें तनिक भी इधर से उधर करने की नहीं है।......" अगले ही पृष्ठ पर वह फिर कहता है, "लेकिन.... मैं हूं, यही तुम्हारी दिक्कत है। है न सुखदा ? आज तुमसे कहता हूं कि मुझे अपने में मान लो। इस तरह की बातों में मेरा अलग से विचार मत किया करो।......" एक और स्थल पर उसने कहा,.......''विवाह क्या चीज है मैं अक्सर सोचता हूं। क्या वह स्वत्व को बन्धक रख देना है, स्वत्व का अपहरण कर लेना है ?" अभिप्राय यह कि कान्त को (और कान्त के माध्यम से लेखक जैनेन्द्र को) सुखदा के कर्म-क्षेत्र में भाग लेने पर तब तक आपत्ति नहीं है जब तक पति-पत्नी में अन्तर न हो, भिन्नत्व न हो। और फिर गुप्त जी के मत के विरुद्ध 'सुखदा' में पति-पत्नी का यह सम्बन्ध केवल एक 'रुख' नहीं है, क्रान्ति की कथा से भी कहीं अधिक उसका महत्व है। चूंकि गुप्त जी स्वयं एक क्रान्तिकारी रह चुके हैं, इसी लिए शायद उपन्यास में क्रान्ति-सम्बन्धी कथा ही उनके मर्म को अधिक स्पर्श कर सकी, उसी के प्रति वह अधिक संवेदनशील और सजग हैं।

'सुखदा' जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की प्रतिनिधि रचना है। सुखदा का चरित्र-निर्माण रचयिता की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि और शिल्प-कौशल का अद्वितीय उदाहरण है। सुखदा भावुक है, कल्पनाशील है। अल्पसाधन-युक्त पति से विवाह के आरम्भिक दिनों में वह असन्तुष्ट होती है। 'अहम्' जागरूक होता है, नियम-परम्परा न मानकर वह सार्वजनिक कार्यों में भाग लेकर उसे अभिव्यक्ति देती है। सरल

स्नेहशील पति के साथ तादात्म्य अनुभव करने में असमर्थ रहती है। उसे नारी की वह प्रकृति मिली है जो बाहर से स्वतन्त्रता का दावा करते हुए परतन्त्रता और नियन्त्रण के लिये आकुल रहती है।[१] पति उसे ऐसे मिले नहीं हैं जो उस पर प्रतिरोध और अधिकार दिखाएँ। इस पर उसके स्वभाव की विकृति बढ़ती जाती है। तभी लाल की निर्भयता, दृढ़ता, उद्धतता और रहस्यमयता से वह उस पर मोहित होती है। सामाजिक नीति नियम से परे लाल के मुक्त स्वच्छन्द और 'उघड़े' व्यवहार से उसे तृप्ति मिलती है। उसका मान उसे अपने पति से सम्बन्ध विच्छेद तक करा देता है। पति की सदा पदपत्व-विहीन, कोमल-स्निग्ध, सद्भावपूर्ण प्रकृति उसमें करुणा तो पैदा कर सकती है लेकिन सुखदा जैसी नारी में प्रेम और समर्पण पैदा करने के लिये उसमें aggression बिल्कुल नहीं है। और यही aggression, निर्ममता, लाल (हरीश की सुरक्षा की द्विविधा में) अपने दृढ़ पंजों से सुखदा के कन्धों पर दिखाता है तो "उस समय मैंने शारीरिक और आत्मिक दोनों किनारों से अनुभव किया कि मैं नहीं हुई जा रही हूँ। मरी जा रही हूँ, निश्चय जीने से अधिक हुई जा रही हूँ।" बाद में लाल उसे मिल नहीं पाता और कान्त पर की गई उसकी करुणा अधिक देर ठहर नहीं पाती और वह सदा के लिये पतिगृह छोड़ जाती है। मान इतना है कि चलते वक्त दोनों हाथ भी जुड़ नहीं पाते हैं। अनेक वर्षों के उपरान्त हम उसे पश्चात्ताप की यातना भोगते हुए पाते हैं। किन्तु सुखदा को पश्चात्ताप क्यों और कैसे है, इसकी व्याख्या पाठक को नहीं मिल पाती है। कारण यह है कि सुखदा की कहानी आगे पूरी नहीं हुई है।

सुखदा के अतिरिक्त भी सभी पात्र (छोटे हों, बड़े हों इसकी गणना गिनती में नहीं की है) अपनी-अपनी प्रकृति-विशेष, विचार-विशेष और हाव-भाव-विशेष के साथ गढ़े गये हैं। लाल देशभक्त है, परायण है लेकिन मुक्त, स्वच्छन्द और स्त्रियों की ओर विशेषोन्मुख। अर्थ और समाज के लिए वह साम्यवादी है। हरिदा की त्याग, कर्म और नियम में आस्था है, क्रान्ति के सम्मान के लिए वह जीवन उत्सर्ग

१. अधोलिखित कथन से इसका साम्य देखिए:—

I am afraid that women appreciate cruelty, downright cruelty, more than anything else. They have wonderfully primitive instincts. We have imancipitated them, but they remain slaves looking for their masters, all the more. They love being dominated —Oscar Wilde.

कर देते हैं। प्रमात हठधर्मी, दृढ़कर्तव्य, दृढ़प्रतिज्ञ है, क्रान्ति और दल के लिए वह सब कुछ करने में समर्थ है, यद्यपि उसमें विवेक अधिक नहीं है।

घटनाएँ अपने साधारण अर्थ में 'सुखदा' की कथा में नहीं के बराबर ही हैं। छोटी-छोटी क्रिया-प्रतिक्रियाओं, घात प्रतिघातों तथा मनःस्थितियों के विश्लेषण और विचार-संघर्षों के सार द्वारा ही इस कथा का निर्माण हुआ है। उपन्यास की गति नंगे पैरों की चाल के समान है जिसमें छोटे-छोटे कंकर कंकरियों की भी चुभन महसूस होती है। किसी भी प्रसंग को सिद्धहस्त क्रियाकलाकार उतनी ही दूर तक ले जाता है, जितनी कि आवश्यक है, सहज सह्य है।

विवर्त[1]

भुवनमोहिनी दिल्ली के एक प्रसिद्ध जज की सन्तान है और जितेन अंग्रेजी के एक पत्र के सम्पादक विभाग में नियुक्त है। दोनों सहपाठी रहे हैं और अब मित्रता ने प्रेम का रूप धारण कर लिया है। किन्तु उन दोनों के बीच एक व्यवधान उत्पन्न होता है। जितेन अभाव-ग्रस्त है और वह अनुभव करता है—मैं मेहनत करके खाता हूँ। पाई-पाई पसीने के बल मुझे कमानी होती है। वह इस तथ्य के प्रति भी जागरूक है कि भुवनमोहिनी 'अमीरजादी' है और दोनों के संस्कारों में बहुत अन्तर है। किन्तु भुवनमोहिनी इस अन्तर को स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नहीं है। "यह कैसा प्रेम है जो मुझ में मुझ को ही नहीं अमीरजादी को देखता है?" इस वर्ग भेद की चेतना-रूपी व्यवधान के रहते वह विवाह करना उचित नहीं समझती और फलस्वरूप जितेन और मोहिनी का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। जितेन नगर छोड़ कर अज्ञात स्थान पर चला जाता है। और मोहिनी का विवाह इंग्लैंड से अभी लौटे बैरिस्टर नरेश के साथ सम्पन्न हो जाता है।

चार वर्ष बाद जितेन मोहिनी के जीवन में फिर पदार्पण करता है। गत रात्रि उसने पंजाब मेल गिराई है। हत तिरेसठ, आहत दो-सौ पन्द्रह। आत्म सुरक्षा की दृष्टि से जज नरेश के घर में आश्रय लेना वह श्रेयस्कर समझता है। परन्तु साथ ही अपने मन की गहराई में वह एक लालसा लिये हुए है कि वह देखे कि क्या मोहिनी के हृदय में उसके लिये अब भी प्रेम अवशिष्ट है। ज्वर-ग्रस्त होकर मोहिनी के घर कई दिन आश्रय लेने के लिये वह बाध्य होता है। मोहिनी उस निराश प्रेमी के

[1] पहला संस्करण, १९५३, पूर्वोदय प्रकाशन, दरयागंज, दिल्ली।

प्रचण्ड विनाशक रूप को देखकर स्नेह और करुणा से अभिभूत हो जाती है। वह जितेन की परिचर्या और सेवा-शुश्रूषा में रत हो जाती है। पति के अपने प्रति अमित विश्वास और प्रेम पर निर्भर होकर वह जितेन की प्राण-रक्षा के हेतु उसके वर्ग-भेद विरोधी क्रान्तिकारी व्यक्तित्व से अपने पति को अपरिचित रखती है। रोगावस्था में जितेन को समय-समय पर मोहिनी के रूप-वैभव और ऐश्वर्य के दर्शन मिलते हैं और वह अपनी, अपने साथियों तथा समाज के दरिद्र-वर्ग की अभाव से जर्जरीभूत दशा से इस समृद्धि की तुलना करता है तथा साम्यवादी विचारधारा से पुष्ट अपने मनोभावों को मोहिनी के सम्मुख उत्साह और ओज के साथ अभिव्यक्त करता है। किन्तु मोहिनी और नरेश के अखण्ड और सम्पूर्ण प्रेम को देखकर जिसमें शंका व ईर्ष्या को कोई स्थान नहीं है, जितेन के हृदय में जो यातना-मिश्रित ईर्ष्या की ज्वालाएँ दहकती हैं, उनकी ध्वनि भी उसके कार्य-कलाप में अस्पष्ट नहीं है।

थोड़ा स्वस्थ होने पर जितेन एक रात मोहिनी के आभूषणों की चोरी करके अपने डेरे पर पहुँच जाता है। वह चाहता है कि उनके बदले मोहिनी पचास हजार रुपये नकद उसके दल को दे दे, लेकिन मोहिनी यह स्वीकार नहीं करती। इस पर उसका हरण कर लिया जाता है और उसे धमकियाँ दी जाती हैं। किन्तु इसी समय जितेन का हृदय-परिवर्तन होता है और वह असीम मानसिक संघर्ष और यातना के उपरान्त क्रान्ति में श्रद्धा खो बैठता है और साथियों की सुरक्षा तथा अनेक प्रकार की व्यवस्थाएँ करके पुलिस के सामने आत्म-समर्पण कर देता है।

मोहिनी के अनुरोध पर नरेश न्यायालय में जितेन के पक्ष में पैरवी करने के लिये तैयार है लेकिन स्वयं जितेन नहीं चाहता कि उसको बचाने के लिए किसी प्रकार का प्रयास किया जाये।

आवरण-पृष्ठ पर प्रस्तुत उपन्यास के सम्बन्ध में कहा गया है कि "वह एक पराक्रमी और तपस्वी पुरुष की कहानी है जो अपराध की राह पर चल पड़ता है। उपन्यास पढ़कर आप आविष्कार करते हैं कि अपराध व्यक्ति का स्वभाव नहीं है। मानो कहीं दबाव है, ग्रन्थि है, विवर्त है, जिसके कारण स्वभाव विभाव को अपना उठा है।" 'विवर्त' शब्द की सार्थकता की व्याख्या ही इन पंक्तियों द्वारा नहीं होती, अपितु उपन्यास के नायक जितेन के व्यक्तित्व पर भी प्रकाश पड़ता है। अब तक जैनेन्द्र ने जितने भी उपन्यास लिखे हैं, वे सभी नायिका-प्रधान कथाएँ हैं किन्तु 'विवर्त' उनका प्रथम आख्यान है जिसमें कथा एक पुरुष को केन्द्र मानकर आदि से अन्त तक चलती है। जितेन लेखक के उन पात्रों में से एक है जो उस की मदय-पूर्ति परोक्ष

रूप से करते हैं। हिंसा-वृत्ति का खण्डन तथा अहिंसा वृत्ति का उपार्जन व प्रतिपादन जैनेन्द्र के उपन्यासों का एक प्रमुख उद्देश्य है। जितेन एक प्रबुद्ध अहं का व्यक्ति है। मोहिनी के प्रति प्रेम और अनुराग रखते हुए भी वह यह नहीं भुला पाता कि वह एक साधारण श्रमजीवी मध्यम श्रेणी से सम्बन्धित है और मोहिनी स्वामी-श्रेणी की ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रतिनिधि। अपनी इस वर्ग-चेतना के कारण ही वह मोहिनी को खो बैठता है। प्रेम की निराशा और हृदय का सूनापन एक ग्रन्थि के रूप में उसे हिंसा के मार्ग पर ले आते हैं और वह दरिद्र वर्ग के उत्थान और उत्कर्ष का निमित्त लेकर बुर्जुआ समाज को समूल विनष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो जाता है। निश्चय ही जितेन "एक पराक्रमी और तपस्वी पुरुष" है किन्तु वह जिस 'अपराध की राह पर चल पड़ता है,' वह अपराध की राह कौन-सी है, यह स्पष्ट नहीं है। क्या जितेन एक साधारण अपराधी मात्र है अथवा राजनीतिक सत्ता और समाज की आर्थिक व्यवस्था विरोधी विध्वंसात्मक क्रान्ति का एक नेता? क्या पंजाब मेल का गिराना जिसमें अनेकानेक व्यक्ति हत और आहत हुए, क्या स्थान-स्थान पर सर्वहारा समाज के समर्थन में और पूँजीवादी वर्ग के विरोध में दिए गए जितेन के सबल वक्तव्य, क्या उसका वैयक्तिक तापसी जीवन और देश-व्यापी षड्यंत्र का सूत्रधार बन कर निःस्वार्थ हर क्षण प्राण हथेली पर लिए काम करना इसी ओर इंगित करते हैं कि वह उन साधारण अपराधियों में से है जो अपने स्वार्थ के लिए डाके डालते और हत्याएँ करते फिरते हैं? क्या समाज की दुर्व्यवस्था और असमानता का विरोध करना अपराध है? पर क्या जितेन उन्हीं अर्थों में क्रान्तिकारी है जिन अर्थों में 'सुनीता' के हरिप्रसन्न और 'सुखदा' के हरीश हैं? हरिप्रसन्न और हरीश के समय में राजनीतिक परतन्त्रता थी और उनके प्रयत्न उसको उतार फेंकने की ओर उन्मुख थे। किन्तु जितेन के समय में तो भारत पर भारतीयों का ही राज्य है, इसका संकेत उपन्यास में स्पष्ट मिलता है। जब जितेन एक साधारण अपराधी नहीं है तो क्या वह वर्तमान भारतीय शासन के विरोधी साम्यवादी दल का एक सदस्य है? निश्चय ही जितेन अपने विचारों में मार्क्सवाद का प्रचार करता है किन्तु स्वतन्त्रता के परवर्ती काल में ऐसी कोई भी ऐतिहासिक घटना नहीं घटी है जब कि शासन-विरोधी लोगों ने 'देशव्यापी षड्यन्त्र' रचा हो जिससे "एक विस्फोट आता और व्यवस्था गई होती और सभ्य जीवन निगला जा चुका होता।" तो क्या ऐसे एक षड्यन्त्र की ओर जितेन के रूप में उसके नेता की सृष्टि लेखक की औपन्यासिक कल्पना मात्र है? यदि ऐसा है तो उपन्यास-लेखक के शासन और समाज-व्यवस्था-सम्बन्धी राजनीतिक और आर्थिक विचार उसकी कृति में नितान्त अप्रच्छन्न हैं लेकिन लेखक में साम्यवादी हिंसात्मक विचार-प्रणाली

भर के ही प्रति विरोध है, उसमें आस्था रखने वाले पात्रों के व्यक्तित्व के प्रति उसमें पूर्ण समत्व है वैसा ही जैसा कि स्रष्टा का अपनी सृष्टि के साथ रहता है। उस विचार-पद्धति के सत्य का भी वह वास्तव में विरोधी नहीं है। गरीबों और उनकी गरीबी के प्रति उसमें निस्सीम करुणा और अगाध सहानुभूति है। वह तो साम्यवादी क्रियात्मक विधि से ही मत-भेद रखता है। जितेन के आत्म-समर्पण में सिद्धान्त की हार है, व्यक्तित्व का उत्कर्ष ही है। पाठक उसके प्रति सहानुभूति नहीं खोता। किन्तु यह तो रहा जैनेन्द्र के पक्ष की दृष्टि से। दूसरा पक्ष असहमत भी हो सकता है, और है। उनके तर्क के अनुसार व्यक्ति की हार समष्टि की अथवा सिद्धान्त की हार नहीं हो सकती। जितेन में कुछ अपनी मनोग्रन्थियां (Complexes) थीं जिनके कारण उसमें अपने कार्य के प्रति आस्था का लोप हुआ; इस लिए पराजय सिद्धान्त की नहीं हुई, व्यक्ति का ही अपकर्ष हुआ। सत्य को कौन जान और कह सका है? साहित्य में जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण रखना साहित्य-स्रष्टा का कर्त्तव्य है। जैनेन्द्र की जीवन की आलोचना और व्याख्या अपनी है। उन्होंने अपनी कृतियों में उसका उपस्थापन किया है। और इसी कारण कला में तटस्थता की जो हानि होती है, वह हानि इस उपन्यास में भी हुई है। साम्यवादियों की अदम्य कर्तृत्व-शक्ति के समुचित अंकन में लेखक न्याय नहीं कर सका है। अकार्यपुष्ट मात्र सम्वादों द्वारा क्रान्ति का पक्ष सबल और प्रभावशाली नहीं बन पड़ा है। सामूहिकता के स्थान पर व्यक्ति के वैयक्तिक मनोवैचित्र्य, विशेषकर प्रेम पर केन्द्रित मनःस्थितियों को लेखक ने अधिक महत्व दिया है।

जैनेन्द्र के अन्य उपन्यासों के प्रमुख नारी पात्रों के समान ही 'विवर्त' की भुवनमोहिनी भी एक जटिल चरित्र है। आवरण पृष्ठ के परिचय में कहा गया है कि विवाह के उपरान्त जितेन के प्रति मोहिनी का सम्बन्ध असन्दिग्ध किन्तु मर्यादाशील स्नेह का था। एक बार सम्बन्ध-विच्छेद करने के बाद जितेन मोहिनी के जीवन में, जो अब किसी की पत्नी है, फिर आता है तो मोहिनी के मनोजगत् में एक उद्वेलन मच जाता है। पंजाब मेल गिराने का काण्ड सुन कर जज और बैरिस्टर की पत्नी को जितेन से घृणा नहीं होती। वह 'कातर' होकर पूछती है, "तुमने यह क्यों किया ?" फिर आगे कहती है, "..........तुम क्या अकेली मुझको नहीं मार सकते थे कि वहाँ ट्रेन गिराने गए ? मेरा इतना अविश्वास ?" अविश्वास के कारण इतनी ग्लानि और इतनी कातरता क्य इसी लिए है कि भुवन मोहिनी को जितेन से 'स्नेह' था ? इतना ही नहीं, "तुम्हारा अविश्वास ! तुम कौन हो ?" जितेन के इस प्रश्न पर मोहिनी का उत्तर है "मैं सब कुछ हूं तुम्हारी।" "और पति की ?" "पत्नी".....

लेकिन छोड़ो।"...... " जितेन के उकसाने पर कि वह उसे पुलिस के हाथों पकड़वा क्यों नहीं देती मोहिनी की कातरता और यातना सीमा पर पहुँच जाती है—"मैं अभी अपना गला घोट डालूंगी अगर तुमने मुझे और सताया।" "क्यों, क्या प्रेम करती हो ? प्रेम ही नहीं भला बनने देता।" मोहिनी 'गम्भीर हो कर' बोलती है 'हाँ, करती हूँ। लेकिन तुम कौन होते हो ?"......" कदाचित यह प्रेम स्वीकारोक्ति अमर्यादाशील है इस कारण लेखक सतर्क होकर अपना आगे एक दूसरे स्थल पर वक्तव्य देता है। "मोहिनी निष्प्रयोजन होकर पलंग से उठी और कुर्सी में आ बैठी, बैठी सोचती रह गई। इस व्यक्ति पर (जितेन पर) उसे दया आई। कितना बोझ अपने मन पर लेकर यह उसकी शरण में आ पड़ा है। कितना उसने विश्वास किया।"......"किन्तु फिर शायद लेखक मोहिनी के मनो भावों के ठीक-ठीक चित्रण से विमुख नहीं हो सका, कुछ ही आगे वह कहता है। "मोहिनी को अपना अतीत याद आया। क्या होता उस आग का (जितेन के जीवन का) अगर वह साथ होती ? क्या वह तब जलने से ज्यादा उजलती नहीं ? लेकिन उसने अपने को इन विचारों से तोड़ा। सब सपने थे कि बिजली की तरह भीतर अलक्ष्य रहेंगे, बहते रहेंगे, और रह-रह कर कौंध जाया करेंगे। बोझ से भारी भरकम न बनेंगे कि जड़ता में नीचे जायें। प्राणवायु की तरह प्रवाही, तरल और चिन्मय बन कर रहेंगे। पर वह सब दूर हुआ और आज वह प्रतिष्ठा और सुरक्षा के बीच है, सब सुविधा है और सब सम्पदा है, लेकिन ...

"लेकिन के बाद वह कुछ नहीं सोच सकी। समझ ही नहीं सकी कि क्या है जो नहीं है। विघ्न नहीं है, बाधा नहीं है, अभाव नहीं है, चुनौती नहीं है। लेकिन यह तो नश्वर है। इनका न होना ही सच्चा होना है। पर क्या सच ?..."

पर क्या सच जितेन के प्रति मोहिनी के भाव स्नेह से ज्यादा नहीं है, उससे अतिरिक्त नहीं है ? ठीक है वह समाज और कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा के विचार से जितेन से शारीरिक सम्बन्ध नहीं रखती। लेकिन यदि समाज की मर्यादा देह से आगे नहीं जाती तो क्या वह 'मर्यादा' सार्थक है ! 'मर्यादा' का महत्व मानना ही है तो वह पूरे अर्थों में मान्य होना चाहिए।

मोहिनी अपने पति को जितेन के असली व्यक्तित्व का परिचय नहीं देती और उसकी पुलिस से सब प्रकार से रक्षा करती है तो क्या उसके प्रति अपने हृदय की करुणा और दया के कारण हो ? लेकिन धन प्राप्ति के उद्देश्य से जब मोहिनी का अपहरण कर लिया जाता है तो उसके व्यवहार की व्याख्या क्या होगी ? "मोहिनी ने विवश दोनों घुटने थाम लिए।' मोहिनी ने बाँहों की लपेट से कसकर जितेन की

टाँगों को पकड़ लिया।""मोहिनी ने जितेन के दाहिने हाथ को खींचकर बार-बार मुँह से लगाया, आँखों से लगाया सारे चेहरे से लगाया और सुबकते-सुबकते कहा—"जितेन ''जितेन !" ''इस पर मोहिनी झुक कर बूट के तस्मों से कुछ ऊपर पाँव के मोजों पर बार-बार जितेन के पैरों को चूम उठी। जितेन कुछ न समझ सका। घबरा कर उठा, दरवाजा बन्द किया और आ कर मोहिनी को ऊपर उठाया। मोहिनी कटे वृक्ष की नाईं उसकी छाती पर सिर टेक कर पड़ रही।'' अपने आँसुओं के बीच में से मोहिनी बोली—"मुझे सचमुच मार क्यों नहीं देते हो जितेन ? क्यों त्रास पाते हो ?" जितेन ने बेहद तेज होकर कहा—"आँसू से बात न कर औरत, सीधी बात कर।" "कहती तो हूँ जितेन, सीधे मुझे मार दो। टेढ़े से अपने को न मारो।" क्या यह असहाय, करुण आत्म-समर्पण की अवस्था जितेन के प्रति मोहिनी की दया, करुणा अथवा मात्र स्नेह की अभिव्यक्ति रूप है ?

उपन्यासकार जितेन के अपराधी व्यक्तित्व का, ग्रन्थि से उद्भूत उस के 'विभाव' का परिष्कार अहिंसात्मक रीति से सिद्ध करना चाहता है। किन्तु यह परिष्कार मोहिनी के 'असंदिग्ध किन्तु मर्यादाशील स्नेह के प्रभाव से' नहीं अपितु आवरण-पृष्ठ के उल्लेख के प्रतिकूल मोहिनी के जितेन के प्रति निश्चित प्रेम की प्रतीति तथा जितेन के मोहिनी के प्रेम में पुनरास्था के कारण सम्भव हुआ है।

तो क्या फिर मोहिनी अपने पति नरेश के प्रति अनुरक्त नहीं है ? यहीं मोहिनी के चरित्र का जटिल पक्ष सम्मुख आता है। आद्यन्त नरेश के प्रति मोहिनी का अनुराग व प्रणय अन्यून और अविचलित है, उसे पति में पूर्ण विश्वास है, उसके प्रति अपने कर्तव्य कर्मों का उसे समुचित ज्ञान है। वास्तव में पति में पूर्ण अनुरक्त होने और उसकी आँखों में यथेष्ट आस्था पाने के कारण ही मोहिनी जितेन के प्रति विवाह से पूर्व के अपने प्रेम को स्थिर रखकर उसके समस्त व्यक्तित्व एवं चेतना में क्रान्ति लाने में सफल हो सकी है।

पात्र नरेश की सत्ता मोहिनी के कारण ही है। हम उसके पति-रूप में ही उससे परिचित हैं। विवाहित स्त्री-पुरुष के पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में अपने आदर्श के उपस्थापन में जैनेन्द्र ने उसका उपयोग किया है। नरेश के चरित्र की विवृति इस आदर्श की विवृति और व्याख्या है और उसकी सफलता, एक आदर्श पति की सफलता है। 'सुनीता' के 'श्रीकान्त' और 'सुखदा' के 'कान्त', जैसे क्रमशः इस दृष्टि से विकास प्राप्त करते हुए अपने चरित्रों की परिणति नरेश के चरित्र में पाते हैं। जैसे नरेश का चरित्र इस क्षेत्र में पराकाष्ठा है। पत्नी के प्रति पति

का विलीनीकरण, परस्पर में सम्पूर्ण आस्था की प्रतिष्ठा, परस्पर के कर्मों के लिए दायित्व की चेतना, 'क्यों', 'कैसे', 'किसलिए' आदि प्रश्नों का अनस्तित्व—ये ही दाम्पत्य तादात्म्य के लक्षण हैं। यदि जैनेन्द्र के शब्दों का प्रयोग करें तो जहाँ अपने अधिकार-भाव को याद रखने का अवसर ही न हो, जहाँ एक दूसरे के मन को जान लिया और अपने को तदनुरूप ढाल लिया जाता हो, जहाँ अपने न होने का भाव हो किन्तु निरी अनुगति नहीं, जहाँ खुद भी रहा जाये लेकिन फिर भी किसी तरह की रगड़ न आती हो, जहाँ कर्म कर्तव्य न हो, सहज सिद्ध हो, वहाँ ही प्रणय की आत्यन्तिक (चरम) अवस्था है। इसी एकात्म्य की सत्ता जैनेन्द्र के अभिमत में प्रणय की आदर्श स्थिति है। नरेश का चरित्र इन कसौटियों पर पूरा उतरता है। उसमें मोहिनी के अतीत के प्रति ईर्ष्यापरक जिज्ञासा का भाव नहीं है, वह उसके वर्तमान की स्पष्टता व सुलभता से सन्तुष्ट है। उसे मोहिनी में अत्यधिक विश्वास है; इसलिए जितेन के प्रति उसके सम्बन्ध से वह चिन्तित नहीं है और यदि चिन्तित है भी तो मोहिनी की व्यग्रता और असहाय जैसी अवस्था के कारण ही। यह जान कर भी कि जितेन विवाह से पूर्व मोहिनी का प्रणय-पात्र था और कदाचित् अब भी है, उसमें आधिपत्य का किंचित् मात्र भी भाव उदित नहीं होता। वह मोहिनी के सुख के लिए अपने सामाजिक सम्बन्ध, यश, धन आदि को त्याग देने के लिए सभी प्रकार से तत्पर है। अपनी पत्नी को बन्दी करने वाले जितेन के प्रति उसकी सहिष्णुता और सद्व्यवहार और मुकदमे में उसको बचाने के लिए उसकी कटिबद्धता मोहिनी के प्रति उसकी अप्रतिम श्रद्धा तथा प्रेम के परिचायक हैं।

कला की दृष्टि से जैनेन्द्र के उपन्यासों में विवर्त का कोई अधिक महत्व नहीं है। शायद केवल 'परख' ही इससे निम्नतर कोटि की रचना है। छोटी-सी कथावस्तु को २३० पृष्ठों के बृहदाकार में प्रस्तुत करना कुछ ऐसा ही बन पड़ा है जैसे कि अगुलि पर आ जाने वाली कोई वस्तु मुट्ठी में दी जाए जिससे कि उसकी कुछ प्रतीति हो न हो। मन की सूक्ष्म गति-विधियों, घात-प्रतिघातों तथा संकेत-इंगितों का असाधारण रूप से (जो कि जैनेन्द्र की लेखनी के लिए साधारण ही है) समर्थ निरूपण ही इस उपन्यास में चित्त को अचंचलायमान रखता है। दूसरा तत्त्व जो कथा को रोचकता तथा रंजिरता दोनों की ही अत्यधिक पुष्टि करता है, वह है कथोपकथन। कथा को सामान्य गति में कथोपकथन के माध्यम से अज्ञात अन्तर्वृत्तियों को सहज-सरल अभिव्यक्ति देने में जैनेन्द्र सिद्धहस्त हैं। इस सहज सिद्ध सामान्य विशेषता के अतिरिक्त जो इतर गुण 'विवर्त' के कथोपकथनों में है जिसके कारण

कि वे एक पृथक् कोटि में आते हैं, वह है उनमें नाटकीयता की प्रचुरता।[1] नाटकीय उपादान जितने इन सम्वादों में उभरे और निखरे हैं उतने कदाचित् अन्य किसी उपन्यास में नहीं। संक्षिप्तता किन्तु अर्थ-गौरव, भावों की तीव्रता और उनका अकस्मात् परिवर्तन जिससे पाठक आश्चर्य-विमूढ़ व अभिभूत हो जाये, पात्रोचित भाषा का प्रयोग—ये ही वे कुछ गुण हैं जो प्रस्तुत उपन्यास में अपनी पूर्ण समृद्धि में दीख पड़ते हैं। यहाँ तक कि यह निश्शंक कहा जा सकता है कि 'विवर्त' का लेखक यदि घटना-संगठन को तनिक अधिक सशक्त बना कर नाटकों की भी रचना करे तो वह असफल न होकर कृतकार्य ही होगा।

व्यतीत[2]

'सुखदा' की भाँति ही 'व्यतीत' की रूप-रचना आत्मकथात्मक है और मुख्य पात्र 'पूर्वदीप्ति' (Flash-back) की प्रणाली का प्रयोग करता हुआ अपनी कहानी कहता है।

आज जब जयंत की पैंतालीसवीं वर्षगाँठ है तो सवेरे-ही-सवेरे यह प्रश्न उसकी चेतना को अभिभूत कर लेता है कि क्या अब वह 'व्यतीत' है। वह पाता है कि 'व्यर्थता' ही उसके जीवन में ऊपर से नीचे तक लिखी है। तब वह अपने अतीत का सिंहावलोकन करता है। इस दशा में जो कुछ वह देख सका, वही इस उपन्यास का वक्तव्य है।

'व्यतीत' की कथा का ताना-बाना भी लेखक की पिछली अन्य औपन्यासिक कृतियों के समान ही प्रेम के उपादानों से निर्मित हुआ है। किन्तु इस नव्य कृति में अपेक्षाकृत अपना कुछ वैशिष्ट्य है। क्रांतिपरक प्रासंगिक कथा, जिसका उपयोग कथाकार ने अपने एकाधिक उपन्यासों में किया है, इस रचना में अप्रस्तुत है। इसके अतिरिक्त प्रेम का क्षेत्र भी त्रिभुज के लघु आकार में सीमित न रहकर अत्यन्त विस्तृत हो गया है जिसका केन्द्र एक पुरुष जयन्त है। स्वभावतः इस कृति में अनेक नारी-पात्रों की उद्भावना हुई है।

---

१. पृ० ९-१५, पृ० २५-३०, पृ० ६५-७४, पृ० ११०-११७, पृ० १६०-१६१, पृ० १६८-१७२, पृ० १९३-१९९, पृ० २०९-२१५—तक की सभी घटनाएँ या घटनांश इसी बात के साक्षी हैं कि 'विवर्त' में जैनेन्द्र की औपन्यासिक कला एवं रचना-कौशल नाटक-सृष्टि के समीप से समीपतर हो गए हैं।

२. प्रथम संस्करण, १९५३। पूर्वोदय प्रकाशन, ७ दरियागंज, दिल्ली।

वास्तव में 'व्यतीत' एक पुरुष की एक स्त्री के प्रति—जयन्त की अनिता के प्रति—रुग्ण आसक्ति (morbid fixation) की अवस्था में पुरुष की मनःस्थिति का लेखा है। इस आसक्ति के मूल में जयन्त की आहत अहम्मन्यता अवस्थित है।

इक्कीसवें वर्ष में ही जयन्त को अपने दूर के रिश्ते की बहन अनिता से प्रेम हो गया है। किन्तु दैवात् अनिता का विवाह किन्हीं महाशय पुरी से हो जाता है। इस निराशा से जयंत की दृष्टि इतनी तमसावृत्त हो जाती है कि बी० ए० में स्थान ले आने पर भी वह न आगे अध्ययन जारी रखता है और न सिविल सर्विस की परीक्षा में बैठता है जैसा कि पहले निश्चय था। '''''' अब इस अन्नी के यहाँ आकर जैसे सब सशय में पड़ गया।' इसी घोर नैराश्य में से तभी प्रचण्ड अहंकार का प्रस्फोट होता है। ७५ रु० पर किसी पत्र की सह-सम्पादकी करने के लिए जयन्त अपने पिता का विरोध करके घर छोड़ कर चला जाता है और अपने निश्चय पर अटूट रहने के लिये पिता को कभी शक्ल न दिखाने की प्रतिज्ञा करता है। अनिता उसे मनाने और ले आने के आग्रह से उसके पास पहुँचती है किन्तु जयन्त अपनी नौकरी छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। पिता अत्यधिक अस्वस्थ हैं, फिर भी पुत्र उनकी सेवा के लिए लौटने को राजी नहीं है। पिता के श्राद्ध पर ही वह वापिस आता है। अनिता यत्न करती है कि जयन्त का घर बसा कर उसे बाँध ले जिससे वह वापिस नौकरी पर न जाये और एक सम्पन्न व्यक्ति की भांति जीवन बिताये। परन्तु जयन्त बँध नहीं पाता है और वापिस नौकरी पर चला जाता है।

इसी समय जयन्त के जीवन में सुमिता का प्रवेश होता है। सुमिता जयन्त के ज्येष्ठ अधिकारी सम्पादक की पुत्री है। सम्पादक के कहने पर वह सुमिता के अध्यापन का कार्य-भार सँभालता है। धीरे-धीरे सुमिता जयन्त के प्रति उन्मुख होती है किन्तु जयन्त की ओर से विशेष उत्साह-वर्धक प्रतिक्रिया नहीं होती है। "मैं अपात्र हूँ, सुमिता,"—उसका नकार में उत्तर है।

इस प्रसंग के उपरान्त अधिक देर उस नगर में ठहरने में अपने को असमर्थ पाकर जयन्त घर वापिस लौट आता है। समस्त घटना पर उसकी टीका इस प्रकार है, "प्रेम की पोथी एक झोंके में खुल आई थी। मैं तो समझा था, बंद हुई। लेकिन दूसरे किसी भाग्य की रही होगी। खुली वह लेकिन पढ़ नहीं सका।"...... "सच ही कहूँगा। बात (यह) हुई, अनिता, कि तुम्हारी याद आ गई। फिर पोथी के अक्षर तैरने लगे। कुछ पढ़ा न गया।......"

इस बार प्रेम में नैराश्य से उद्भूत जयन्त का 'अहं' एक नया रूप धारण करता है। उसके हृदय की ओर हताशा अब हिंसा का आश्रय लेना चाहती है। वह अब-चल-रहे विश्व युद्ध में भाग लेने को इच्छुक है। यह हिंसा वस्तुतः परहिंसा नहीं है, आत्महिंसा ही है। "जी तो चाहता है, पर अब मैं कहाँ जाकर? इसका पता तुम्हीं दे दो! सोचा है, लड़ाई का मैदान मुझीसे की जगह होगी।" जल्द ही थोड़े दिन कुछ करने को हो जायेगा। हाथ घिरे रहेंगे और अपने से छुटकारा होगा।' 'यह आत्मदान बड़ा देना लगता है।' कितनी दारुण अवस्था है जयन्त के मन की! वह अपने को भुलाना और मिटाना चाहता है।

कमीशन लेने के लिए जयन्त जब शिमला पहुँचता है तो वहाँ एक और नारी उसके जीवन में पदार्पण करती है। चन्द्री जयन्त के मित्र कुमार की 'कज़िन' है। वह जयन्त के प्रति आकृष्ट होती है और चन्द्री को देख कर जयन्त को भी मानो चोट देती हुई चुनौती मिलती है पर वह चुनौती को चेतन धरातल पर आने नहीं देता, और बाहर से चन्द्री के प्रति उदासीन बना रहता है।

किन्तु परिस्थितियाँ कुछ इस तरह घटती हैं कि जयन्त चन्द्री की ओर प्रवृत्त होता है और दोनों की घनिष्ठता इतनी बढ़ती है कि दोनों विवाह कर लेते हैं। चन्द्री के प्रति जयन्त के भाव किस प्रकार के हैं, यह वह स्वयं अनिता के सामने खोलता है, 'कर्तव्य ही नहीं, अनिता, चन्द्री के लिए मन में कुछ और भी है।'··· यह तो नहीं, नहीं, वह नहीं··· ···अनिता !" इस पर जयन्त फिर 'चेष्टा करके' कहता है, 'वह तो सदा के लिए गया। नहीं, अब लौट कर इस मरु-जीवन में वह वस्तु तो कभी आने वाली नहीं···· !' लगता है जयन्त का संकेत अपने और अनिता के प्रेम की ओर ही है। तब तो स्पष्ट हो जाता है जयन्त का चन्द्री से तादात्म्य नहीं है। वास्तविकता यह है कि चुनौती के कारण ही वह चन्द्री से विवाह करता है। काश्मीर में मनाई 'हनीमून' में घनिष्ठता बढ़ती नहीं, घटती ही है। अनिता के कारण पति-पत्नी का व्यवधान बढ़ता जाता है। और अन्त में चन्द्री जयन्त को छोड़ कर चली जाती है।

चौथी स्त्री जयन्त के जीवन में तब आती है जब वह युद्ध में वीरता दिखाकर घायल हो अस्पताल में पड़ा होता है। होम्योपैथ डाक्टर कपिल की पत्नी, जिसको जयन्त कपिला के नाम से पुकारता है, अतीव सहृदया और सेवा-भाव की व्यक्ति है। इसी बीच चन्द्री एक बार फिर यत्न करती है कि जयन्त उसे स्वीकार कर ले किन्तु जयन्त कठोर ही बना रहता है। कपिला से जयन्त को भगिनीत्व मिलता है, "जिसमें मान नहीं है और जो मान को जगाता नहीं है।" किन्तु तभी अनिता जयन्त को

अनिता से दूर खींच ले जाती है। कलकत्ते में होटल के एकान्त कक्ष में जयन्त अनिता का समर्पण चाहता है किन्तु वह अपने प्रतीक्षमान मन को अपने में ही दबोच कर मसोस डालता है। बाद में अनिता देह-दान के लिए तत्पर भी होती है, लेकिन तब जयन्त 'गैरिक वस्त्र' लेने की इच्छा प्रकट करता है और अनिता को विदा करके वह साधु का वेष धारण कर लेता है।

जयन्त का जीवन एक विवशता का जीवन है। अनिता के प्रति उसकी अनुरक्ति इतनी तीव्र और दृढ़ हो गई है कि अब वह जीवन में साधारण (normal) व्यवहार करने और विभिन्न परिस्थितियों और व्यक्तियों के साथ अपने को समन्वित करने में, चाहते हुए भी, अपने को सर्वथा असमर्थ पाता है। उसकी आसक्ति रुग्ण (morbid) अवस्था तक पहुँच चुकी है। अनिता के साथ अपने प्रेम में निराशा पाने के कारण उसकी अहं-वृत्ति आक्रान्त हुई है। इसी अहं-भाव ने उसमें इतनी दुर्दान्तता और असाधारणता (abnormality) को जन्म दिया है कि वह अनिता के अतिरिक्त किसी अन्य नारी से प्रेम नहीं कर सका।

सुमिता से, सब सुविधा और सब कारण होने पर भी वह प्रेम नहीं कर सकता क्योंकि उसे अनिता की याद आ गयी। चन्द्री से उसका सम्बन्ध और भी जटिल है। न केवल उन दोनों के बीच में अनिता आ खड़ी होती है, अपितु सम्पन्नता के अभाव में उसकी हीनता-ग्रन्थि उत्कर्ष-ग्रन्थि में बदल जाती है और वह चन्द्री के साथ अप्रत्याशित और असाधारण व्यवहार करने लगता है। चन्द्री 'अतिशय रमणीया थी, इससे मेरे लिए जैसे तिरस्करणीया बन उठी, मानिनी थी इसलिए अपमाननीया हो गई। धनशालिनी थी, इससे दण्डनीया बन गई, ऊँची थी, इससे नीची बनाना शायद मेरे लिये आवश्यक हो गया। ओफ़, क्या पैसे की कमी मेरे भीतर इतनी गहरी जा बैठी थी, कि वह दबकर कस कर अभिमान की ग्रन्थि बन उठी। जो हो, वह अभ्यर्थना से झुकती, मैं अनादर में तनता कहता, 'कुछ नहीं तुम रहने दो'।'[1] आत्म अनुपात में जयन्त अपने को 'परवर्स' कहने में भी नहीं झिझकता है। चन्द्री को घनिष्ठ बनाया तो इसीलिए कि वह उसके पुरुषत्व के लिए चुनौती थी और यह उसके 'अहं' को अस्वीकार था कि वह हार माने। बाद में जयन्त की घायलावस्था में चन्द्री उससे क्षमा माँगती हुई सिर पटकने और फफक-फफक कर रोने लगी तो 'मैं वह सब आराम से सुनता रहा। आराम से ही तो कहूँ, क्योंकि हृदय चाहे जितना भी विदीर्ण होता रहा, मेरे आराम में भंग नहीं पड़ा। अंग-प्रत्यंग हिला तक नहीं, परम व्रती बना मैं

१. 'व्यतीत' पृ० ११७।

सब पीता गया और चुपचाप रहे चला गया।' उसके हृदय की कठिनता कितनी दयनीय है। जयन्त की इस असहाय और विवश दशा के कारण ही, उसके क्रूर और कठोर व्यवहारों के बावजूद भी उसके प्रति हृदय में जुगुप्सा अथवा घृणा का उद्भव नहीं होता है।

लेकिन जब अनिता के प्रति उसकी इतनी आसक्ति ही थी तो उसने अनिता को उसके आग्रह पर भी स्वीकार क्यों नहीं किया ? क्या अहंकार के कारण ही ? किन्तु अनिता के साथ अहंकार कैसा ? इस प्रश्न का एक समाधान यह हो सकता है— वास्तव में जयन्त नीति-भीरू व्यक्ति है। वह एक स्थल पर सोचता है, 'अनिता की दक्षता माननी होगी। परिवार उसके पास कम नहीं है। ऊँचो घर की मर्यादा है। उसमें समय और युक्ति निकालकर मुझ जंगली को पालतू बनाने की चेष्टा में चली आती है। यह कम कुशलता नहीं है। एक किताब में है कि कर्म-सुकौशल योग है। इस कर्म-कौशल को मेरा मन बार-बार पाप कहना चाहता है। और जब अनिता सामने होती है, मैं मन में निरन्तर इस पाप-पाप की रट लगाये रहता हूँ।' [1] कदाचित् यह नीति-भीरुता ही समर्पण की स्वीकृति में बाधक रही। दूसरा समाधान यह हो सकता है (यह स्वयं जैनेन्द्र का समाधान है) कि अनिता और जयन्त का योग विधि-इच्छा (Cosmic will) को स्वीकार नहीं था। अनिता की देह-दान की तत्परता सहज और नैसर्गिक नहीं थी, अपितु वह इच्छित थी, 'willed' थी। इस असम्पूर्णता के कारण ही जयन्त ने अनिता को स्वीकार करना उचित नहीं समझा।

इस प्रकार की अनिश्चितता जैनेन्द्र की शैली की एक विशेषता है। कौतूहल और रहस्य की संवृद्धि के हेतु जैनेन्द्र विवरण में विस्तृति से काम न लेकर संकेतों और इंगितों का प्रयोग करते हैं। निश्चय ही इस शैली-विशेष के फलस्वरूप जैनेन्द्र के उपन्यास-साहित्य में विलक्षण कथा-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है। परन्तु इसका अपना दुर्बल पक्ष भी है। लेखक कभी-कभी इन संकेतों की इतनी न्यूनता कर देता है कि पाठक के लिए पात्रों के विचित्र कार्य-व्यापारों के निमित्तों का यथार्थ बोध अनिश्चित हो जाता है। परिणामतः कार्य-व्यापार-व्याख्या के लिए विकल्पों की सहायता लेनी पड़ती है।

आज पैंतालीसवें वर्ष पर जयन्त जब अपने विगत जीवन पर दृष्टिपात करता है, तो "मैं कहता हूँ जब व्यर्थता का बोध चारों ओर से शिरा-शिरा को बेध कर मुझे जर-जर किये जा रहा है। अपने को अपने में लिये चला गया, कहीं पूरी तरह देकर

१. 'व्यतीत' पृ० ७१।

खतम नहीं कर सका। इसी से तो आज पाता हूँ कि मैं हूँ और अभी मृत्यु से कुछ अन्तर पर हूँ। ·""कहीं अर्थ शेष नहीं है। सिर्फ यह है कि इस मुझ नितान्त रीते अर्थहीन को लोग देखें और चेतावनी पायें। खेतों में डराने खड़े किये जाते हैं। वैसे ही शायद मैं हूँ। एक ठूह जिससे लोग आगाह हों कि राह यह नहीं है।"[1] जयन्त के ये शब्द हैं किन्तु इनमें उपन्यास का ध्येय ध्वनित है। अहंता की अशुभकारिता दिखाकर उसकी अवांछनीयता का निदर्शन ही लेखक का लक्ष्य है।

चरित्रों की विलक्षणता और वैविध्य ही 'व्यतीत' की विशिष्टता और सफलता है। 'विवर्त' के पश्चात् यह जैनेन्द्र का नायक-प्रधान दूसरा उपन्यास है। 'विवर्त' के जितेन और 'व्यतीत' के जयन्त में कोई साम्य नहीं। जैनेन्द्र के पिछले उपन्यासों में ही क्या, हिन्दी उपन्यास-साहित्य में जयन्त का चरित्र अद्वितीय है। अनिता में सुनीता अंश रूप में झलकती है, शेष अनिता की अपनी मौलिकता है। रूढ़ि उसमें है, पति के प्रति विरक्त वह नहीं हो सकती, उसके लिए उसमें अत्यधिक श्रद्धा है किन्तु प्रेमी के प्रति उससे भी अधिक अगाध प्रेम है। "मेरा घर बना रहा तो तुम होगे, उजड़ गया तो भी तुम होगे।" सुनीता की भाँति वह प्रणयी को अपना शरीर देने के लिए तैयार है किन्तु पति की आज्ञा से नहीं स्वेच्छा से, "जयन्त, स्त्री-देह को तुमने नहीं जाना है तो यह मैं हूँ। ब्याहता हूँ, पति की भक्ति करती हूँ, फिर भी हूँ।" किन्तु एक बार ऐसी अनिता को परम्परा से प्राप्त संस्कार उन्मत्त भी बना देते हैं और वह अपने 'सतीत्व' की रक्षा के लिये जयन्त को दुष्ट और नराधम ठहराती है और उससे संघर्ष करने को कटिबद्ध हो जाती है। लेकिन वह संस्कारों से उत्पन्न क्षणिक भावोन्माद ही था, इससे अधिक कुछ नहीं।

चंद्री के व्यक्तित्व-अंकन में अनेक मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताएँ हैं। उसमें चुनौती देने का सामर्थ्य है, अपमानित होने पर फूत्कार करने की शक्ति है। उसमें दर्प और अहंकार है लेकिन साथ ही अनपेक्षित भाव से सेवा करते रहना भी उसका स्वभाव है। एक बार जयन्त के मन की अन्धकारमयी गुहाओं को जान कर वह उस पर अधिकार की चेष्टा नहीं करती है। जयन्त की अवहेलना और भर्त्सना पा कर भी 'उसकी प्रसन्नता और प्रभुता में अन्तर न आया। असन्तोष का अभाव न दीखा।'······ 'कहीं तनिक प्रतिषेध न करती, और पति के प्रति कृतार्थ और भरपूर उमंग से भरी दुल्हन बनी दीखती।' अनिता और जयन्त के बीच में अपने को बाधा और बोझ समझ कर वह जयन्त को छोड़ भी देती है लेकिन पुनः उसके जीवन में (उसकी घायल

१. 'व्यतीत' पृ० ६९

दशा में) प्रवेश पाना चाहती है लेकिन निर्मम जयन्त की ओर से उसे अस्वीकृति ही मिलती है। जयन्त के हृदय में आज जो उसके लिए इतनी अधिक प्रशस्ति है उसी से चन्द्री की महत्ता का पता चलता है।

कनिमा का चरित्र अपने असीम सेवा-भाव, ममता और करुणा के कारण अलौकिक है। इस दिव्य व्यक्तित्व में स्वत्व का लेश भी नहीं है, उसके संसर्ग से सुख और शान्ति का ही लाभ होता है।

अनिता' और सुमिता के लघु चरित्रों में भी विविधता और सम्पूर्णता है। ये चरित्र अपनी सीमा से ही कथाकार की कला को श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

'व्यतीत' की शैली की विशेषता है इसकी सांकेतिकता। वैसे तो संकेत-शैली का प्रयोग जैनेन्द्र की कला में सर्वत्र प्राप्य गुण है किन्तु 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' के बाद ही 'व्यतीत' में ही इसका अत्यधिक प्रकर्ष हुआ है। नाटकीय शैली, जिसका प्रचुर प्रयोग 'विवर्त' में किया गया है, 'व्यतीत' में एक ही दो प्रसंगों में उपयुक्त की गई है।[1] काश्मीर में जयन्त और चन्द्री के मध्य के प्रत्याख्यान की घटना हठात् साम्य-वैषम्य के कारण 'नदी के द्वीप' के तुलियन-प्रसंग की याद दिलाती है। किन्तु अज्ञेय की सूक्ष्म सौन्दर्य दृष्टि जैनेन्द्र में अलभ्य है।

किन्तु घटना-परिकलन, मन के प्रच्छन्न पहलुओं की मनोवैज्ञानिक व्याख्या अनुभव-खण्डों की दार्शनिक विवृति, यथार्थ-चित्रण की प्राणवत्ता, वृत्तों की संगत एकात्मकता का इस उपन्यास में इतना सतुलित और समीचीन समावेश हुआ है कि जैनेन्द्र के पिछले उपन्यासों की तुलना में 'व्यतीत' अपूर्व कला-सौष्ठव व कथा-कौशल का परिचय देता है। यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र की औपन्यासिक कला का चरम विकास 'व्यतीत' में मिलता है। परित.सुख्याति-प्राप्त 'त्यागपत्र' और 'सुखदा' के समकक्ष ही 'व्यतीत' का सहज स्थान है।

१. यथा—जयन्त का चन्द्री को विदेश न जाने के लिए समझाना, अथवा काश्मीर में रात को घूम कर जयन्त के लौटने पर चन्द्री का उसके प्रति व्यवहार, अथवा जयन्त से चन्द्री का क्षमा मांगने वाला प्रसंग।

चौथा अध्याय

जैनेन्द्र के उपन्यासों का सामान्य विवेचन

(अ) कथावस्तु

जैनेन्द्र के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए हम कह चुके हैं कि वह आस्तिक हैं और जीवन के आध्यात्मिक पक्ष की ओर उनकी अधिक प्रवृत्ति है। जीवन में जिस सत्य का अनुभव उन्हें हुआ है उसमें और गांधी-दर्शन में अत्यधिक साम्य है। जैनेन्द्र सत्य में ईश्वर का दर्शन करते हैं और प्रेम अथवा अहिंसा को वह उसकी प्राप्ति का मार्ग समझते हैं। अहिंसा अथवा प्रेम के माध्यम से सत्योपलब्धि के हेतु सतत प्रयत्न-शील रहने के कारण उपन्यासकार जैनेन्द्र के लिए बहिर्जगत् में विशेष आकर्षण नहीं है। बहिर्जगत् के उपलक्ष से उन्होंने सत्य को ही खोजा या व्यक्त किया है। अन्यथा अन्तर्जगत् की क्रिया-प्रतिक्रियाओं में ही, निरहन्ता की स्थिति की प्राप्ति में ही वह सदा व्यस्त और निरत रहे हैं।

मनस्तत्व के साथ उनकी यह व्यस्तता ही उनके औपन्यासिक चित्र-फलकों (Canvases) की प्रउनुता की व्याख्या करती है। 'सुनीता' की भूमिका में स्वयं लेखक ने कहा है, "इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं। उसके द्वारा हम सत्य के दर्शन करा भी सकते हैं।" वास्तव में हिन्दी के उपन्यासकारों में यह केवल उन्हीं की विशेषता है कि वे कथा के विकास के लिए घटनाओं पर बिल्कुल निर्भर नहीं करते, अपितु उनके बदले जीवन की नितान्त साधारण गतियों और संकेतों का आश्रय लेते हैं।[1]

कथानक की स्थूलता के अभाव में पात्रों की अबहुलता भी सहज-जन्य है। "कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। अत: तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है।" जैनेन्द्र के उपन्यासों में, वास्तव में, तीन-चार से अधिक प्रमुख पात्रों

---

१. 'साहित्य-चिन्ता' का लेख 'जैनेन्द्र की उपन्यास-कला'—डा० देवराज, पृ०१७७-७८।

के सुख के लिए समर्पण की वृत्ति का पोषण करने में ही कल्याण है। अपनी इस मान्यता का ही प्रतिपादन उन्होंने उपन्यासों सहित अपने समस्त साहित्य में किया है।

'सुनीता' में श्रीकान्त समर्पण की वृत्ति अथवा निरहम् का प्रतीक है, सुनीता का चरित्र इसका क्रियात्मक रूप है। दूसरी ओर हरिप्रसन्न के व्यक्तित्व में पहले कभी अहं आहत होने के कारण (हरिप्रसन्न के चरित्र के सम्बन्ध में यह जैनेन्द्र का ही मत है) बड़ी भयंकरता है। श्रीकान्त और सुनीता अपने 'समर्पण'-आत्मक व्यवहार से हरिप्रसन्न की प्रचण्डता को संयमित करते हैं।

'त्यागपत्र' की मृणाल इसी समर्पण के भाव की साक्षात् मूर्ति है। समाज के अत्याचारों के प्रति भी उसमें कोई प्रतिरोध नहीं है। कोयले वाले को भी वह इसी विचार से स्वीकार करती है कि अस्वीकृति की दशा में उसका 'अहं' क्षुब्ध होगा और वह हिंसात्मक प्रतिक्रिया में अभिव्यक्ति पायेगा। जज पी० दयाल भी अपने त्यागपत्र से इस जीवन-दृष्टि की पुष्टि करते हैं।

कल्याणी अपनी समस्त चेतन शक्ति से इस बात के लिये सचेष्ट है कि वह अपने पति के प्रति समर्पित बनी रहे। उसका अन्तर्मन विद्रोह करता है और इस कारण उसका व्यक्तित्व अतीव करुण और आत्म-व्यथित है। उसका प्राणान्त इसी दशा में हो जाता है।

सुखदा की कहानी घोर मनस्ताप की कहानी है। उसका 'अहं' प्रबुद्ध है। उसका पति से, जिसके चरित्र का निर्माण श्रीकान्त '(सुनीता)' की भाँति ही हुआ है, वैमनस्य बढ़ता जाता है। वह क्रांति के हिंसात्मक कार्यक्रम में सक्रिय भाग लेना आरम्भ कर देती है। जीवनान्त के निकट आते-आते उसकी समस्त चेतना अनुताप की ज्वाला से दग्ध है और वह निस्सीम आत्म-व्यथा का अनुभव कर रही है।

'विवर्त' की रूपरेखा 'सुनीता' से मिलती-जुलती है। जितेन को जब प्रेम में नैराश्य का सामना करना पड़ता है तो उसमें आहत 'अहं' के कारण हिंसा फूत्कार कर उठती है। तब भुवनमोहिनी अपने पति नरेश का अन्यय प्राप्त कर के अपने प्रेम-मय आचरण से जितेन के मन की ग्रन्थि को खोल देती है।

'व्यतीत' के जयन्त की भी प्रेम में नैराश्य के प्रति प्रतिक्रिया बहुत कुछ जितेन के समान ही होती है। भेद इतना ही है कि जयन्त अपनी अहम्मन्यता के कारण अनिता पर रुग्णतः आसक्त हो जाता है। फलतः वह अन्य किसी भी नारी के साथ

प्रेम और समर्पण का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता। समय के साथ-साथ वह आत्म-व्यथा में घुलता रहता है और अपने जीवन की व्यर्थता को समझ पाता है।

'परख' चूँकि जैनेन्द्र की आदि औपन्यासिक कृति है, इसमें उपर्युक्त दोनों वृत्तियों के निरूपण की रेखाएँ इतनी सुस्पष्ट नहीं हैं। कदाचित् जैनेन्द्र की वे धारणाएँ उस समय तक पकी नहीं थीं। फिर भी कट्टो और बिहारी के चरित्रों में समर्पण की भावना वर्तमान है। सत्यधन 'अहं' में और अपने मिथ्या आदर्शों में फूला एक ऐसा पात्र है जो आत्म-प्रवंचना से ग्रस्त है और अन्त में दुःख ही पाता है।

यद्यपि ये सभी प्रेम के कथानक हैं, फिर भी इनका विशेष वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। इस पर भी जो कुछ वर्गीकरण सम्भव है, वह इस प्रकार हो सकता है :—

पहले वर्ग में वे कथानक जिनमें प्रेम का निरूपण दो पुरुष और एक स्त्री को लेकर हुआ है। यथा— 'सुनीता', 'सुखदा' व 'विवर्त'। 'त्यागपत्र' में तो मृणाल, शीला के भाई और मृणाल के पति—इनसे मिल कर त्रिकोण बन जाता है। 'कल्याणी' उपन्यास में भी 'प्रीमियर' के कथा में पदार्पण करने से इस 'त्रिकोण' की छाया देखी जा सकती है।

दूसरे वर्ग में 'परख' का स्थान है जिसमें दो पुरुष और दो ही नारी पात्रों द्वारा प्रेम के कथानक का निर्माण हुआ है।

तीसरे वर्ग में 'व्यतीत' का स्थान है जिसमें केवल एक पुरुष पात्र है जिसे तीन नारी पात्र प्रेम करते हैं।

'सुनीता', 'सुखदा' आदि पहले वर्ग के कथानकों में यद्यपि एक नारी और दो पुरुष पात्रों की अवतारणा हुई है, तथापि उस नारी को लेकर उन दोनों पुरुषों में (यद्यपि उनमें एक पति है और दूसरा प्रेमी) कोई संघर्ष अथवा प्रतिद्वन्द्विता का भाव नहीं है। इसकी एक मात्र व्याख्या यही है कि पति अधिकार में विश्वास नहीं रखता और पत्नी पर अपनी इच्छा का आरोप नहीं करना चाहता।[1] प्रेमी की ओर से ईर्ष्या अथवा आक्रोश के लिए उस समय भी अवकाश हो सकता है जब कि नायिका उससे प्रेम न करके पति से ही प्रेम करे। किन्तु जैनेन्द्र की कोई भी नायिका

१. यह बात 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' उपन्यासों पर लागू नहीं होती है।

पतीतर प्रेमी पुरुष के प्रति प्रेम-शून्य नहीं है क्योंकि प्रेम के अभाव में 'स्व' का विस्तार नही होगा जो जैनेन्द्र को अभिप्रेत है।

वस्तुगत स्थूल मौलिकता का प्रश्न जैनेन्द्र की कला के सम्बन्ध में नहीं उठता, वहाँ उसका कोई महत्व ही नहीं है। किन्तु चरित्र-चित्रण, प्रतिपाद्य विषय, भाषा, शैली आदि के क्षेत्र में उनकी मौलिकता असंदिग्ध और असाधारण है। प्रेमचन्द आदि के समान जातीय (type) चरित्रों की बँधी-बँधाई लीक पर न चल कर हिन्दी में वैयक्तिक पात्रों की सृष्टि जैनेन्द्र ने 'परख' और 'सुनीता' में की। इस प्रकार हिन्दी औपन्यासिक साहित्य के इतिहास में वह सर्वप्रथम व्यक्तिवादी कलाकार है। सूक्ष्म व कोमल चारित्रिक पहलुओं तथा जीवन के प्रच्छन्न वृत्तों के उद्घाटन में मन.शास्त्र का जितना आश्रय जैनेन्द्र ने लिया, उतना हिन्दी में किसी पूर्ववर्ती कथाकार ने नही लिया था। उन्होंने उपन्यास को "मनुष्य के आभ्यन्तरिक जगत के सच्चे प्रतिनिधित्व की योग्यता तथा क्षमता" से समन्वित किया। हिन्दी उपन्यास में अन्तःप्रयाण की प्रवृत्ति के जैनेन्द्र प्रवर्तक है। उपन्यास की उपयोगिता के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि सर्वथा तात्विक है।,कथा-साहित्य के माध्यम से जीवन के चिरन्तन सत्यों के निरूपण व उद्घाटन की सामर्थ्य का प्रदर्शन जैनेन्द्र ने ही सबसे पहले किया। डा० देवराज के शब्दों में, "किस प्रकार क्षुद्र में महत्, पिण्ड में ब्रह्माण्ड अन्वित या प्रतिफलित हो रहा है, किस प्रकार जीवन का प्रत्येक कण सम्पूर्ण जीवन की गरिमा से मण्डित है, और उसे समझने की कुंजी है, यह लक्षित करना जैनेन्द्र की कला की अपनी विशेषता है।"[1] शैली और भाषागत मौलिकता के सम्बन्ध में हम अन्यत्र कहेंगे। सारांश यह कि जब हिन्दी-साहित्याकाश के क्षितिज पर जैनेन्द्र का आविर्भाव 'फाँसी' (कहानी संग्रह '२६) और 'परख' (उपन्यास '३०) के साथ हुआ तो हिन्दी कथा ने एक नया मोड़ लिया। उसके बाद, अज्ञेय के शब्दों का यदि हम प्रयोग करें, लेखक का प्रमुखता के शिखर पर पहुँचना साधारण-सी बात थी, और कुछ ही वर्षों में अपनी आगामी रचना के महान साहित्यिक गुणों के कारण ही नहीं, अपितु शायद इससे अधिक, अपने रचनात्मक दृष्टिकोण की विक्षुब्धकारी मौलिकता की वजह से भी, वह हिन्दी साहित्य में सबसे अधिक चर्चा का विषय था। उसके विचार, उसकी कथा-वस्तु, उसके पात्र, यहाँ तक कि उसकी भाषा भी इतनी नवीन थी कि उत्तेजना फैलाती थी। और प्रत्येक नवीन उपन्यास ऐसे दर्शन की स्पष्टतर व्याख्या

---

१. 'साहित्य चिन्ता'—ले० डा० देवराज, पृ० १७८।

करता हुआ प्रतीत होता था जो तात्कालिक आतंकवादी राष्ट्रीय विचारधारा के आश्चर्यजनक रूप में विरुद्ध था।"[1]

किन्तु इसका यह अर्थ बिल्कुल भी नहीं है कि जैनेन्द्र की कला बाह्य प्रभाव से सर्वथा अस्पृष्ट है। बंगला के दो महान् साहित्यिकों—शरत् और रवीन्द्र—का जैनेन्द्र पर पर्याप्त प्रभाव देखा गया है। 'परख' और शरत् की अरक्षणीया के कथानकों के सूत्र काफ़ी मिलते-जुलते हैं परन्तु शरत् की कृति में नायक का विश्वास तोड़ना और सुख व वैभव की ओर ढुलक पड़ना भयंकर होकर दुःसह और दुःखदायी हो जाता है। और कट्टो के समान ही अरक्षणीया भी अपने मुख पर टिकली व काजल लगाती है किन्तु दूसरा चित्र अपेक्षाकृत अत्यधिक वेदना को जगाता है। किन्तु यही नहीं कि शरत् की कला ने आलोच्य लेखक के साहित्य के कलेवर का ही स्पर्श किया हो। वस्तुत: जैनेन्द्र की आत्मा तक में शरद् का प्रभाव है। शरत् के प्रति एक लेख में[2] जैनेन्द्र ने अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की है। उसी लेख में से कुछ वाक्य यहाँ उद्धृत किए जाते हैं क्योंकि वे कहीं सम्पूर्णत: और कहीं अंशत: जैनेन्द्र के सम्बन्ध में भी कहे जा सकते हैं:

"शरद की मूर्तियाँ इतनी आत्ममयी है कि उन पर हम-आप विवाद ही कर सकते है, अधिकार नहीं कर सकते। उनमें अपना स्वभाव है, इस कारण वे सब इतनी अबूझ हैं कि कोई दो व्यक्ति उन पर एक राय नहीं रख सकते। शरद ने जो कुछ उनके द्वारा करा दिया है, उससे आगे और उसके अतिरिक्त मानो कोई उन मूर्तियों से कुछ नहीं करा सकता। पुस्तकगत स्थिति से भिन्न परिस्थिति में वे पात्र-पात्रियाँ क्या करतीं, भारा विवेचन पर भी मानो कोई निश्चित निश्चय नहीं हो सकता है।"

"शरद की सहानुभूति व्यापक है, यह कथन इस कारण यथेष्ट नहीं है, क्योंकि वह सब कहीं एक सी गहरी है।...शरद में विस्तार कम है, तो घनता उस कमी को पूरा कर देती है।...उनकी रचनाओं में कहना कठिन हो जाता है कि कौन शरद को विशेष प्रिय है, कौन नायक है, कौन प्रतिनायक है, कौन खल पात्र भाता है, जैसे सब बस स्वयं है।"

---

१. 'द रेजिग्नेशन' की भूमिका—लेखक स. ही. वात्स्यायन।

२. लेख 'शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय'—पुस्तक 'ये और वे' ले० जैनेन्द्र कुमार।

"कोई पुरुष-पात्र नहीं है, जिसके लिए मध्य-बिन्दु कोई सदेह नारी न हो, कुछ और हो। और कोई नारी नहीं है, जिसने देहधारी पुरुष को लाँघ कर इसी भाँति किसी एक संकल्प का समर्पण अथवा वरण किया हो।"

"शरद ने यदि लौट-लौट कर अपनी रचनाओं में मानव-(स्त्री-पुरुष) प्रेम की चर्चा की, उसकी व्याख्या की, तो समाज-हित की दृष्टि से, लेखक की हैसियत से, इससे और अधिक करणीय कर्तव्य दूसरा हो कौन सकता है ? अन्य बौद्धिक बातें झमेला हैं। वाद और विवाद बहुत से चल सकते हैं, चल रहे ही हैं। लेकिन उनके भीतर व्यर्थता बहुत है, सिद्धि यत्किंचित भी नहीं है। उनके ऊपर दुकानदारी चल सकती है। लड़ाई बन सकती है, मानव-हित साधन उनसे असम्भव है।···स्त्री-पुरुष के मध्य खिंचाव की वेदना जितनी सघन और सूक्ष्म रूप से शरद चित्रित कर सके हैं, मैं मानता हूँ, उतने ही अश में वह अपने को ज्ञानी प्रमाणित कर सके हैं।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रतिपाद्य विषय, चरित्र-निर्माण कला, व्यापकता के स्थान पर प्रखरता पर विशेष बल देने की बातों में जैनेन्द्र और शरत्चन्द्र की कलाओं में अद्भुत साम्य है।

'सुनीता' और रवीन्द्र के 'घरे-बाहिरे' की समता तो सर्वत्र ज्ञात है। दोनों में एक ही समस्या है किन्तु जैनेन्द्र से 'अनजाने ऐसा नहीं हो गया है, जान-बूझ कर ऐसा हुआ है।' रवीन्द्र ने 'घर' में 'बाहर' का प्रवेश दिखाया है। विमला विक्षुब्ध है, चंचल है किन्तु संदीप बाहरी तत्व के रूप में अनिमन्त्रित होते हुए भी प्रबल है। समस्या घोरतर से घोरतम होती जाती है और अब 'घर' जैसे टूटने ही वाला है किन्तु तभी कुछ होता है और संदीप के पलायन के साथ समस्या का अन्त हो जाता है। किन्तु इस समाधान से जैनेन्द्र की तुष्टि नहीं थी। अतः 'सुनीता' में उन्होंने समस्या के समाधान को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यदि 'सुनीता' और 'घरे-बाहिरे' में साम्य स्पष्ट और हस्तगत है तो दोनों में विभेद की रेखाएँ भी सशक्त और उभरी हुई हैं।

चूँकि 'सुखदा' की रचना 'सुनीता' के अनुरूप ही हुई है, अतः 'सुखदा' और 'घरे-बाहिरे' में भी समता के दर्शन किए जा सकते हैं। बल्कि श्रीकान्त की अपेक्षा लाल का चरित्र संदीप के चरित्र से अधिक मेल खाता है।

आलोच्य लेखक के नवीनतम उपन्यास 'व्यतीत' में भी एक अन्य उपन्यास की छाया देखी जा सकती है। वह है अज्ञेय का—'शेखर—एक जीवनी।' शेखर

और जयन्त दोनों के जीवन में एकाधिक नारियों का प्रवेश होता है। किन्तु दोनों ही आत्मरति में इतने लीन हैं कि वे किसी भी नारी में अपने व्यक्तित्व को समाहित नहीं कर सकते। किन्तु शेखर का चरित्र अधिक असाधारण (abnormal) और रुग्ण (morbid) है। 'शेखर' में वस्तुपरकता और मनोविश्लेषण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। इससे असंतुष्ट होकर ही कदाचित् प्रतिक्रिया के रूप में 'व्यतीत' की रचना हुई। फल यह हुआ कि जयन्त अपने 'अहम्' के कारण अनुताप से तप्त है और आत्म-व्यथा की तीव्रता प्राप्त कर रहा है।

परन्तु इन समताओं से जैनेन्द्र की मौलिक प्रतिभा खण्डित नहीं होती क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि जैनेन्द्र की कला में ये महत्त्व-शून्य हैं। कथा के ढाँचे को वह कहीं से भी ग्रहण करें किन्तु प्रतिपाद्य उनका आत्मानुकूल है, कथा-विन्यास का ढंग उनका अपना है और चरित्र-निर्माण की शैली उनकी अपनी है। वास्तव में जो कुछ भी जैनेन्द्र ने बाह्यतः लिया, उसको अपनी सहज भाव-प्रवणता तथा सैद्धान्तिक बौद्धिकता में इतना आत्मसात् कर लिया है कि वह पराया नहीं लगता।

जीवन-खण्ड के साथ उनकी कला की व्यस्तता के कारण घटनाओं (अपने साधारण अर्थ में) के अभाव में जैनेन्द्र के सभी उपन्यास अपेक्षाकृत लघु आकार के हैं। वास्तव में उनके, 'उपन्यासों की विषय-वस्तु घटनाएँ नहीं, (gestures)' हैं। इससे कभी-कभी यह आभास होने लगता है कि उनकी कला उपन्यास-कला नहीं है, अपितु कहानी-कला है। और वस्तुतः कहानी की अनेक विशिष्टताएँ भी उनके उपन्यासों में परिलक्षित होती हैं।

प्रासंगिक वृत्तों का सर्वथा अभाव जैनेन्द्र की उपन्यास-कला की एक प्रमुख विशेषता है। जीवन के किसी एक अंश की विवेचना के द्वारा ही अपने वक्तव्य के उपस्थापन में समर्थ होने के कारण, उन्हें कल्पना के प्राचुर्य अथवा विविध प्रसंग-परिकलन की अपेक्षा नहीं रहती। अपनी मान्यताओं की स्थापना व प्रतिफलन के लिए मनोमथन का आधिक्य, चारित्रिक गहनता आदि जो गुण-विशेष वांछनीय हैं, उनकी लब्धि के लिए जैनेन्द्र कथा-क्षेत्र की व्यापकता को आवश्यक नहीं समझते।

आनुषंगिक कथा के अभाव व बड़ी घटनाओं की विरलता के कारण एक सफल कलाकार की कृति में जो प्रखरता और तीव्रता का आना नैसर्गिक होता है, वही जैनेन्द्र के उपन्यासों में भी है। उनके प्रायः सभी उपन्यासों में कहानी अथवा

एकांकी की सी तीव्रता और गति पायी जाती है जो अपने आवेग से पाठक को अभिभूत कर लेती है। "'त्यागपत्र' अपने लक्ष्य की ओर अविराम और अचूक गति से गया है और यह इस दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है। भाग्य की-सी कठिनता और अनवरतता इसके कथानक में है। इस प्रबल प्रवाह का विराम जीवन की चट्टानों पर टकरा कर भग्न होने में ही है।"[1] 'कल्याणी', 'सुखदा' और 'व्यतीत' में भी गति व भावों की तीव्रता विशेष लक्ष्य है।

एकतानता और एकध्यायोन्मुखता के फलस्वरूप जिस दूसरे गुण पर प्रकाश पड़ता है, वह है मात्र संगत घटनाओं का संचयन। असंगत व अनावश्यक घटनाओं के समावेश के लिए जैनेन्द्र की कला में अवकाश ही नहीं है। उनके सभी उपन्यासों की घटनायें अनिवार्य और कटी-छँटी हैं। वे कहीं भी अनावश्यक रूप से दीर्घकालीन (long-timed) नहीं हैं। अथवा यूँ कहें कि उनमें उबा देने वाली दीर्घता नहीं है, और वे रोचकता को सदैव जीवित रखती हैं। 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' के अतिरिक्त यह गुण 'सुखदा' और 'व्यतीत' में भी प्राचुर्य से मिलता है। 'सुखदा' में क्रान्ति-तत्त्व अपवाद रूप में अनावश्यक विस्तार पा गया है।

उपर्युक्त गुण से जो अन्य गुण सहजतः प्रस्फुटित होता है, वह है गाढ़-बन्धत्व (compactness)। सभी आलोच्य उपन्यास न्यूनाधिक रूप में इस विशेषता से मंडित हैं। सघनता, एकात्मकता और बन्धन की कसावट की दृष्टि से 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', व 'व्यतीत' विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

घटनाओं और परिस्थितियों में आकस्मिक और अप्रत्याशित को स्थान देना जैनेन्द्र की उपन्यास-कला का एक और सर्वव्यापी गुण है। 'उनके पात्रों की सारी उत्तेजना एक दूसरे के क्षुद्र इंगितों को केन्द्र बना कर घूर्णमान होती है और पाठक पद-पद पर क्षुद्र की शक्ति एवं महत्ता से चकित और अभिभूत होता है।'[2] पताका-स्थानक शायद 'विवर्त' में सब से अधिक है और वास्तव में इसी विशेषता के कारण यह उपन्यास अरोचक (boring) होने से बच गया है अन्यथा इसमें कथा के सूत्र बहुत ही क्षीण हैं। कार्य-व्यापार की असाधारणता से कौतूहल और औत्सुक्य स्थिर रखने में लेखक को अपनी व्यंग्य-शैली से पर्याप्त सहायता मिली है। उपन्यासकार कार्य के

---

१. "जैनेन्द्र : उपन्यासकार"—लेख 'नया हिन्दी साहित्य—एक दृष्टि में' लेखक प्रकाशचन्द्र गुप्त।

२. 'साहित्य-चिन्ता', लेख—'जैनेन्द्र की उपन्यास कला'—डा० देवराज।

निमित्तों की ओर प्रायः संकेत मात्र करता है, इससे सामान्य पाठक या तो इन्हें नहीं कर पाता या उनको यथोचित महत्व नहीं देता किन्तु जब घटनाएँ घटित ह हैं तो वह आश्चर्य-विमूढ़ हो जाता है कि क्या ये अकारण नहीं हैं। यही कारण कि जैनेन्द्र की कथाओं पर रहस्य का आवरण चढ़ा रहता है। जिज्ञासा और कौतू को उत्पन्न करने वाला यह रहस्य 'कल्याणी' और 'सुनीता' में जितना गहन हो स है उतना अन्यत्र नहीं। कथोपकथन के अतिरिक्त घटनागत यह नाटकीयता जैनेन्द्र इतनी अधिक है कि कई स्थलों पर तो ऐसा लगता है कि लेखक पाठक को चकमे डालना चाहता है। इस नाटकीय आकस्मिकता की उद्भूति के तीन कारण हैं :—

(१) कथा में कौतूहल को जीवित रखने की चेष्टा,

(२) व्यंग्य शैली का सहज परिणाम, और

(३) मानव-मन की अपार गूढ़ता।

यह तो निश्चित है कि इस आकस्मिकता और रहस्यमयता के कारण अपरि मित रोचकता की सृष्टि हुई है।

किन्तु इसी विशेषता को लेकर अस्पष्टता का आरोप जैनेन्द्र के अधिकांश उपन्यासों पर किया गया है। वास्तव में यह अस्पष्टता कलागत इतनी नहीं है जितनी कि जैनेन्द्र के वक्तव्य और उद्देश्य की अबोधता के कारण है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैनेन्द्र की उपन्यास-कला में कहानी-कला के अनेक विशिष्ट गुण अन्तर्निविष्ट हैं किन्तु फिर भी यह क्या बात है कि 'त्यागपत्र' को छोड़कर अन्य प्रत्येक उपन्यास १०० पृष्ठों के आकार की सीमा का अतिक्रमण कर गया है। इसके अनेक कारण हैं।

कुछ उपन्यासों में व्यक्ति-विशेषों का समस्त जीवन-चरित्र चित्रित करने का जैनेन्द्र का आग्रह है। यह बात दूसरी है कि उन्होंने केवल मानसिक पक्ष को लेकर ही अन्तर्जगत् से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित घटना-प्रतिघटनाओं और घात-प्रतिघातों को ही अपना विषय बनाया है। 'त्यागपत्र' में मृणाल, 'सुखदा' में सुखदा और 'व्यतीत' में जयन्त की जीवनियों के अधिकांश का परिचय देने का प्रयत्न किया है। इस प्रवृत्ति ने जहाँ एक ओर उपन्यास को कहानी से पृथक् अस्तित्व दिया वहाँ दूसरी ओर जैनेन्द्र जी ने उसको अत्यधिक विपुल नहीं बनने दिया।

प्रत्येक उपन्यास में एक या एक से अधिक ऐसे पात्रों की अवतरणा अवश्य की गई है जो सूक्ष्म मनोविश्लेषण और गम्भीर चिन्तन की क्षमता रखते हैं (यथा—सुनीता, हरिप्रसन्न, पी० दयाल, सुखदा, मोहिनी, जितेन और जयन्त)। ये पात्र पग-पग पर अपनी और अन्य पात्रों की अन्तरानुभूतियों तथा मन.स्थितियों को समझने का प्रयास करते हैं और स्वात्मा को खँगोलते रहते हैं। साथ ही विभिन्न प्रसंगों और विषयों को निमित्त रूप में लेकर तात्त्विक अनुचिंतन करते हुए दार्शनिक उक्तियों को जन्म देते हैं। यही कारण है कि बाह्यात्मकता की अधिक विवृति न होते हुए भी जैनेन्द्र के उपन्यास क्षीणकाय नहीं होते।

लम्बे-लम्बे कथोपकथन भी (जिनका दोष-रूप में विवेचन आगे किया जायेगा), कुछ हद तक उपन्यासों के आकार की अभिवृद्धि में कारण रहे हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की घटनाओं के सम्बन्ध में सम्भाव्यता का प्रश्न विचारणीय है। उनके पात्र असाधारण मनोभावों के आश्रय होने के कारण असाधारण आचरण करते हैं। जब स्वयं उनके चरित्र गहन और जटिल हैं तो उनका व्यवहार भी रहस्यमय और जटिल लगना स्वाभाविक है। उनके कार्य-कलाप की व्याख्या उनके वैयक्तिक मानसिक ढाँचे और विचारधारा द्वारा ही हो सकती है। बिहारी और कट्टो का स्नेह-सूत्र में बँधकर भी विवाह न करना उनकी अत्यधिक भाव-प्रवण आदर्शवादिता के कारण है। मृणाल ने यदि कोयले वाले को ग्रहण किया है, तो आत्म-पीड़ा उत्पन्न करने के लिए अपनी अंतःकरण से अनुप्रेरित होकर ही। सुखदा अन्त तक पति को स्वीकार नहीं कर पाती तो उसकी व्याख्या यही है कि उसका 'अहं' तादात्म्य में बाधक है। जितेन का हृदय-परिवर्तन स्पष्टतः ही मोहिनी के प्रेम और अहिंसात्मक व्यवहार के कारण ही होता है और वह मृत्यु का आलिंगन करने के लिए आत्मसमर्पण कर देता है। जयन्त अनिता पर इतनी बुरी तरह आसक्त है कि वह अन्य किसी भी नारी से, अपनी पत्नी से भी राग का सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाता—इसमें उसकी अहम्मन्यता की प्रबलता है।

'सुनीता' में हरिप्रसन्न यदि सुनीता की देह-समर्पण का प्रत्याख्यान करता है तो इसी लिए कि वह देह-समर्पण सहज नहीं है, अथवा यूँ कहें धारणा में से विवश होकर वह देह को अनावृत नहीं करती है। वह देह-समर्पण तो इच्छित है, willed है। शारीरिक सम्बन्ध वही श्रेष्ठ होता है जिसमें इच्छा और अनिच्छा दोनों का योग है। समर्पण के साथ-साथ विरोध (resistence) भी होना आवश्यक है। एक

इसके ही समान प्रसंग 'व्यतीत' में भी है। अनिता जयन्त को देह देने के लिए प्रस्तुत है किन्तु वह स्वीकार नहीं करता क्योंकि आत्मा की स्वीकृति उस दान में नहीं है।

मानव-मन के रहस्यों के उद्घाटन की योग्यता जैनेन्द्र की अद्भुत है। अन्तरात्मा के वह सफल चित्रकार हैं।

क्रान्ति के चित्र और क्रान्तिकारी पात्रों की सृष्टि जैनेन्द्र की कला का, कथा-वस्तु की दृष्टि से अनुपेक्षणीय दोष है। यही एक बिन्दु है जो कदाचित् सभी समालोचकों की निन्दा का समान रूप से केन्द्र है। जैनेन्द्र चूँकि अपने साहित्य में अहिंसा का समर्थन और प्रतिपादन करते हैं, अतः हिंसा का खण्डन और उसका तिरस्कार भी उनके लिए आवश्यक है। हिंसा के स्थूल पक्ष में उन्होंने आतंकवादी क्रान्तिकारी आन्दोलन को अपनी भर्त्सना का विषय बनाया है। गांधीवाद मूलतः इसके विरोध में पड़ता है क्योंकि गांधी जी को इस प्रकार के आन्दोलन में पूर्ण अनास्था थी और उन्होंने समय-समय पर इसका तिरस्कार भी किया है। 'सुनीता', 'सुखदा' और 'विवर्त' में जैनेन्द्र ने क्रान्तिकारी पात्रों की सर्जना की है। 'कल्याणी' में भी पाल नामक क्रान्तिकारी चरित्र की थोड़े ही समय के लिए अवतारणा हुई है किन्तु वह वहाँ नितान्त अनावश्यक और अर्थहीन है।

विदेशी सत्ता से स्वदेश को मुक्ति दिलाना ही क्रान्तिकारी आन्दोलन का चरमोद्देश्य था। इसके लिए यत्र-तत्र अस्त्र-शस्त्रादि की सहायता से सरकार के कानून भंग करके, उसके पिट्ठुओं का नाश करके, सरकार को आतंकित करना उसके अनुयायियों का साधन था। ये संगठन बड़ी ही गोपनीयता के साथ किए जाते थे, अन्यथा प्राणनाश की आशंका रहती थी। भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, भगवती चरण आदि इसी प्रकार के क्रान्तिकारी देश-भक्त हुए हैं। ये सशस्त्र क्रान्तिकर्ता अत्यन्त नियम, संयम और साधना से रहा करते थे। ये अधिकांश नवयुवक होते थे और देश की स्वतन्त्रता के हेतु प्राणोत्सर्ग के लिये सदा तत्पर रहते थे। किन्तु चूँकि, ये नवयुवक लक्ष्य-सिद्धि के लिए संयम को सर्वोपरि महत्व देते थे, स्त्रियों का इस क्षेत्र में प्रवेश करना अपवाद था। स्त्री इनकी सबसे बड़ी कमजोरी थी। उसको लेकर क्रान्तिकारी आन्दोलन में विद्वेष और विघटन की अनेक घटनाएँ आज ऐतिहासिक हैं।

जैनेन्द्र ने क्रान्तिकारी के इसी पक्ष को चित्रित किया है। संयम की राह पर चलने वाले इन क्रान्तिकारियों में कितनी काम-पिपासा होती है, स्त्री की सत्ता से इन्कार करते हुए भी उसके प्रति इनके व्यक्तित्व में कितनी तीव्र चाहना रहती है,

यही जैनेन्द्र ने अपने उपर्युक्त उपन्यासों में दिखाया है। हरिप्रसन्न, लाल अथवा जितेन सभी अपने संवादों में अपनी दृढ़ता, निश्चयात्मकता और सिद्धान्त के प्रति सच्चाई का दावा करते हैं। किन्तु तीनों ही क्रमशः सुनीता, सुखदा और मोहिनी के रूप में किसी नारी के रूप, देह और प्रेम में ग्रस्त हैं। जब कि 'ऐक्शन' लेने का और अपने साथियों की रक्षा के प्रयत्न का समय है, हरिप्रसन्न इसी चिन्ता में है कि उसे सुनीता से प्रेम है या नहीं। 'उसका कण्ठ भर आया, उसकी देह काँपने लगी वह जैसे डर से भर गया।' "मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ—प्रेम? लेकिन मैं भी नहीं जानता हूँ सुनीता।"[1] सुखदा के साथ लाल के सम्पर्क के कारण दल के नेता हरीश को दल भंग करना पड़ता है। लाल में कितना साहस और दृढ़ता है? हरिप्रसन्न का तो केवल कण्ठ ही भरता है किन्तु लाल तो 'सुबक' उठता है, "मैं क्या करूँ, सुखी! क्या करूँ?" और सुखदा की गोद को आँसुओं से भरता है।[2] जितेन का चरित्र थोड़ा भिन्न है, वह "अपराध की राह पर चल पड़ता है।" पर वह अपराध की राह कौन-सी है, इसका कहीं कोई संकेत नहीं मिलता। हाँ, यह अवश्य लगता है कि वह क्रान्तिकारी है और 'देशव्यापी षड्यन्त्र' का सूत्रधार है। किन्तु यह कैसी क्रान्ति है जो पंजाब मेल गिरवाती है जिसमें तिरसठ मरते हैं और दो सौ पन्द्रह घायल होते हैं। जनता का विध्वंस ही क्रान्ति का लक्ष्य है? कुछ भी हो, इस क्रान्तिकारी में भी कितनी मजबूती है, वह निम्नांकित उद्धरण से मालूम पड़ती है :

'देखते-देखते एक साथ वह फफक कर रो उठा और मुँह उसने अपने हाथों में छिपा लिया। कुछ देर जैसे वह अपने को किसी तरह न सँभाल सका। कुछ उमड़ कर भीतर से ऐसा आता कि रुके आँसुओं को फिर खोल देता, और वह हिचकी लेकर रो उठता।'[3]

जैनेन्द्र के उपन्यासों में क्रान्तिकारियों की रोने की यह परम्परा उनकी अपनी विशेषता है।

यह क्रान्ति के साथ अन्याय नहीं है तो क्या है? क्रान्तिकारियों की वास्तविक दृढ़ता, प्रचण्डता और देश के लिए उत्सर्ग होने की भावना का जैनेन्द्र के उपन्यास-

१. सुनीता—पृ० १७८।
२. 'सुखदा'—पृ० १०१।
३. 'विवर्त'—पृ० ८८।

साहित्य में पूर्णतया अभाव है। उनकी अदम्य कर्तृत्व-शक्ति का परिचय न देकर उनकी निष्क्रियता, और आदर्शप्रियता पर उपन्यासकार ने अधिक बल दिया है। क्रान्ति के एकांगी चित्रण से जैनेन्द्र ने सहिष्णुता और त्याग से मुख मोड़ा है। इसने आक्रोश, निम्नता और अशान्ति ही के भाव पैदा किए हैं। यह जैनेन्द्र की कला के लिए शुभ ही होता यदि वह क्रान्ति और उसके भक्तों को अपनी कथाओं में स्थान न दें।

किन्तु जैनेन्द्र इन आरोपों का विरोध करते हैं। उनका कहना है कि वह अपने उपन्यासों में क्रान्ति-भक्त का समावेश उसकी निन्दा के लिए नहीं करते। किसी को नीचा दिखाना उन्हें अभिप्रेत नहीं है। वह तो क्रान्तिकारियों को अपने उपन्यासों के माध्यम से समझना चाहते हैं। वह प्रश्न करते हैं—वह कौन-सी चीज है जो इन व्यक्तियों को इतना प्रचण्ड और दुर्दम बना देती है? इस सम्बन्ध में उनकी स्थापना है कि यह प्रचण्डता और दुर्दमता स्वभाव की नहीं है, 'विभाव' की है। वह पाते हैं कि इन क्रान्तिकारियों के जीवन में कुछ ऐसी ग्रन्थियां होती हैं जिन के कारण ये लोग इतनी घोर कर्तृत्व-शक्ति को प्राप्त करते हैं। वह इस असाधारणता के मार्ग को तभी ग्रहण करते हैं, जब कि जैनेन्द्र की मान्यता है, उनका व्यक्तित्व तप्त होता है, उनकी अहं-वृत्ति को ठेस लगती है। जब उन ग्रन्थियों का समाधान हो जाता है, तब व्यक्तित्व की साधारणता भी लौट आती है। हरिप्रसन्न, लाल और जितेन, उपन्यासकार के अनुसार, ऐसे ही व्यक्ति हैं जिन्होंने असाधारण अहम्मन्यता के कारण 'विभाव' को स्वीकार किया है। विवाह के सम्बन्ध में मोहिनी की अस्वीकृति के कारण जितेन 'अहम्' आहत हुआ और वह फूत्कार कर उठा। फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व में इ घोरता का उदय हुआ कि वह विध्वंसकारी बन गया। देशव्यापी षड्यन्त्र का सूत्र बनना वास्तव में एक व्याज है जो खर्वित दर्प की प्रतिक्रिया है। किन्तु जब जि यह पाता है कि मोहिनी के हृदय में उसके लिए अभी भी स्थान शेष है तो उस चेतना पर से प्रचण्डता का आवरण हट जाता है और वह फफक-फफक कर र लगता है लेकिन कुछ काल बाद ही वह फिर चट्टान की तरह दृढ़ और तलवार तरह तीखा हो जाता है। किन्तु मोहिनी अपने सतत प्रेमसिक्त व्यवहार से उसका हृदय-परिवर्तन कर देती है। परिणाम यह होता है कि जितेन पुलिस को आत्म समर्पण कर देता है।

सुखदा में भी कुछ करने की प्रेरणा अपनी अहम्मन्यता में से ही आती है। "मैं नहीं समझ सकती कि उस क्षण में क्या चाहती थी। शायद मैं जीतना चाहती थी, हर किसी से जीतना चाहती थी। क्या कहीं हार का भाव भीतर था कि जीत

की चाह ऊपर इतनी आवश्यक हो आई थी ? वह सब कुछ मुझे नहीं मालूम। लेकिन दुर्दम कर्तृत्व के संकल्प मेरे मन में सहसा चारों ओर से फूट कर लहक उठे।"[१] इन्हीं 'दुर्दम कर्तृत्व के संकल्पों' ने उसे क्रान्तिकारी 'सूरमा' का नाम दिया 'जो आये दिन अखबारों की सुर्खियों में दीखा करती थी' और जिस क्षेत्र से वह क्षय के अस्पताल में पहुँची थी। इसी अस्पताल में उसने अपनी यह कहानी लिखी है। (वास्तव में सुखदा के क्रान्तिकारी रूप को लेकर अभी एक उपन्यास लिखा जाना बाकी है।)

युद्ध में लड़ने की जयन्त की इच्छा का भी स्रोत आहत 'अहम्' ही है। अनिता के रोकने पर भी वह विश्व-युद्ध में भाग लेता है और इस तरह अपने मन की प्रचण्डता को निष्क्रमण का मार्ग देता है।

'त्यागपत्र' में भी इस बात की ओर संकेत है कि अहं-भाव को चोट लगने से मन में कितना काठिन्य आ जाता है। मृणाल कोयले वाले के सम्बन्ध में कहती है,— "मैं उनके हाथ से निकलती तो वह अनर्थ ही कर बैठता। अपने को मार लेता या शक्ति होती तो मुझे मार देता।"

यद्यपि हरिप्रसन्न और लाल के अतीत जीवन से हम परिचित नहीं, किन्तु जैनेन्द्र चाहते हैं कि उनके सम्बन्ध में भी हम यही कल्पना करें कि उनकी निर्ममता और प्रचण्डता उनके स्वभाव की नहीं उनके मन में निहित किसी ग्रन्थि की है। यही कारण है कि उनके रोने में उनके हृदय की दुर्बलता उभर आती है।

किन्तु यहाँ यह शंका उठती है कि हरिप्रसन्न और लाल में 'अहम्' इतना जागरूक नहीं है। हरिप्रसन्न के सम्बन्ध में स्वयं जैनेन्द्र ने कहा है कि वह श्रीकान्त-सुनीता के घर में निरी अहम्मन्यता लेकर नहीं आया है। और लाल का चरित्र विनिर्मुक्त और व्याजहीन है। फिर उनके बारे में हम यह धारणा कैसे बना सकते हैं कि उन्होंने क्रान्ति का रास्ता पकड़ा है तो इसी लिए कि अहं-वृत्ति को कहीं चोट लगी है ?

इन कुछ विवादास्पद प्रश्नों के बावजूद भी जैनेन्द्र कथा-वस्तु के महान् शिल्पी हैं। "इसीलिए, जब कभी जैनेन्द्र जी सादगी में आकर टैकनीक या शिल्प में सर्वथा अबोध होने की बात करने लगते हैं तो हँसी आ जाती है।"[१] 'त्यागपत्र' में यदि

१. 'सुखदा'—९३।

तीव्रता है तो 'कल्याणी' में गहनता कम नहीं है। 'सुखदा' में नायिका के चरित्र-चित्रण में कला का चरमोत्कर्ष है। 'व्यतीत' कथा-बन्धन का अद्भुत कौशल है। 'विवर्त' और 'सुनीता' लगभग एक ही कोटि के उपन्यास हैं। किन्तु सुनीता' अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है और अधिक कोमल है। 'परख' साधारण होने पर भी भावमयता और ताजगी के लिए उल्लेखनीय है।

(आ) चरित्र-चित्रण

क्रिया-कल्प की दृष्टि से जैनेन्द्र कुमार के सभी उपन्यास चरित्र-प्रधान उपन्यास हैं। उनके पढ़ने से पात्र सम्बन्धी पहली विशेषता जो हमारे सामने आती है वह यह है : उनमें तीन चार से अधिक मुख्य पात्र नहीं होते। चूँकि उनके कथानकों का क्षेत्र व्यापक नहीं होता और उनमें स्थूल जगत की विवृति भी अधिक नहीं होती, इस लिये पात्रों की संख्या भी महत्त्वशून्य है।" "जीवन के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर" जैनेन्द्र सत्य के दर्शन कर और करा सकते हैं। अपनी कला की इस क्षमता के कारण ही उन्हें अधिक पात्रों की आवश्यकता नहीं होती। परख, सुनीता और सुखदा में चार-चार मुख्य पात्र हैं। कल्याणी, विवर्त, और व्यतीत की कथा तीन-तीन ही प्रधान चरित्रों को लेकर चली है। सब से कम पात्र त्यागपत्र में हैं। इसमें मृणाल और प्रमोद दो ही प्रमुख पात्रों से कथा का निर्माण हुआ है।

चूँकि जैनेन्द्र व्यक्तिवादी कलाकार हैं, उनके अधिकांश पात्र समाज का प्रतिनिधित्व नहीं करते। कदाचित् परख के पात्र ही इतने विशिष्ट नहीं है कि उन्हें वैयक्तिक पात्रों की श्रेणी में रखा जा सके। फिर भी प्रेमचन्द के 'पात्रों की भाँति कट्टो, बिहारी व सत्यधन सम्पूर्णतः जातीय नहीं हैं। श्रीकान्त, सुनीता, कल्याणी मृणाल, सुखदा, कान्त, नरेश, मोहिनी, जयन्त, अनिता व चन्दी सभी व्यक्तिवादी चरित्र हैं। हरिप्रसन्न, लाल, जितेन आदि क्रान्तिकारी पात्र यद्यपि अपने वर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं परन्तु उनमें भी व्यक्ति स्थान-स्थान पर ऊपर उभर आता है।

किसी भी उपन्यास में पात्र दो प्रकार के हो सकते हैं। एक स्थिर पात्र और दूसरे गतिशील पात्र। स्थिर पात्र वे होते हैं जिनके चरित्र में आद्योपान्त कोई अन्तर

१. लेख—'नारी और त्यागपत्र"—डा० नगेन्द्र। पुस्तक—"सियारामशरण गुप्त"—सं० डा० नगेन्द्र।

नहीं आता और वे स्थिर बने रहते हैं। गतिशील पात्र अपने जीवन में अनेक चारित्रिक परिवर्तन को घटता हुआ पाते हैं। जैनेन्द्र के उपन्यासों में स्थिर व गतिशील दोनों ही प्रकार के पात्रों की उद्भावना हुई है। श्रीकान्त, विहारी, कान्त, अनिता आदि स्थिर पात्रों के उदाहरण हैं। दूसरी ओर सत्यधन, कट्टो, हरिप्रसन्न, कल्याणी, सुखदा, जितेन आदि पात्र परिवर्तनशील हैं।

उपन्यासों में शील-निरूपण दो पद्धतियों से किया जाता है। साक्षात् या विश्लेषणात्मक पद्धति में लेखक स्वयं पात्रों की विशेषताओं का प्रकट करता है और उनके चरित्रों पर प्रकाश डालता है। अप्रत्यक्ष अथवा अभिनयात्मक पद्धति का जब आश्रय लिया जाता है तो चरित्र-चित्रण पात्रों के निजी और। या पारस्परिक विश्लेषण तथा कथोपकथन द्वारा किया जाता है। "कल्याणी," "सुखदा" आदि आत्मकथात्मक उपन्यासों में क्रियाकल्प के नियमों के अनुसार विश्लेषणात्मक पद्धति द्वारा शील-निरूपण नहीं किया गया है। अभिनयात्मक शैली का प्रयोग सभी उपन्यासों में प्रचुरता से किया गया है। इस विषय में एक बात और उल्लेखनीय है। आलोच्य उपन्यासकार पात्रों के आकार-प्रकार, रंग-रूप, वेशभूषा आदि के वर्णन में रुचि नहीं रखता। परख और सुनीता को छोड़ कर जो प्रारम्भिक उपन्यास हैं, जैनेन्द्र ने इस प्रकार के वर्णन का बहिष्कार ही किया है। उन्हें यह बताने की आवश्यकता ही नहीं है कि उनके पात्र गोरे हैं या काले, लम्बे हैं या छोटे, अथवा सुन्दर हैं या कुरूप। उनकी कला को इन उपादानों की अपेक्षा नहीं है।

जैनेन्द्र के सभी उपन्यासों में खलनायक अथवा प्रतिनायक का अभाव है। इसका कारण यह है कि उपन्यासों के एकमात्र उद्देश्य प्रेम के विस्तार में विरोधी तत्व बाधक नहीं होते। बल्कि उसको प्रेरणा और अवसर ही देते हैं। अप्रेम का सामना जैनेन्द्र अप्रेम से नहीं करते हैं। इसीलिये श्रीकान्त के लिये हरिप्रसन्न, कान्त के लिये लाल, और नरेश के लिये जितेन विरोधी नहीं बन पाते। अपनी पत्नियों के प्रेम का विरोध श्रीकान्त आदि प्रतिहिंसा अथवा विद्वेष के साथ नहीं करते हैं, वे उन्हें प्रतिद्वन्दी ही नहीं मानते।

कुछ आलोच्य उपन्यासों में पात्रों की संयोजना इस प्रकार हुई है कि एक चरित्र से दूसरे चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। सत्यधन-बिहारी, हरिप्रसन्न-श्रीकान्त, जितेन-नरेश और सुखदा-कान्त परस्पर विरोधी पात्र हैं और एक दूसरे की चारित्रिक विशेषताओं को अधिक मुखर कर देते हैं। उनका द्वन्द्व महत्भावना और आत्म-व्यथा का, स्पर्धा और विसर्जन का द्वन्द्व है। जो एक की सहज प्रतिक्रिया है, वह दूसरे के लिए

परिहार्य और अगम्य है, और जो दूसरे का स्वभाव है, वह पहले के लिये हेय और पुरुषार्थहीन है। जो एक के लिये प्रवृत्ति का मार्ग है, वही दूसरे के लिये निवृत्ति का स्रोत बन जाता है। "अहम्" में स्व और पर की सीमायें निश्चित और अगम्य हैं। समर्पण में "पर" में "स्व" का लोप हो जाता है। इस तुलनात्मक चरित्र-उपस्थापन से उपन्यासकार के उद्देश्य को स्पष्टता और कला को गौरव प्राप्त हुआ है।

आलोच्य उपन्यासों के अधिकांश प्रमुख पात्रों के तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं:—

पहला वर्ग—हरिप्रसन्न, सुनन्दा, जितेन, जयन्त आदि वे पात्र जिनमें अहंकार प्रबुद्ध था लेकिन जो अब प्रेम और करुणा के महत्त्व को समझ रहे हैं या समझ चुके हैं।

दूसरा वर्ग—कट्टो, सुनीता, कल्याणी, भुवनमोहिनी आदि वे पात्र जिनमें विसर्जन की वृत्ति अत्यधिक प्रबल है।

तीसरा वर्ग—श्रीकान्त, कान्त, और नरेश वे पात्र जिनमें स्वत्व का सर्वथा अभाव है। ये आदर्श पात्र हैं। बिहारी भी आदर्श पात्र है किन्तु उसका चरित्र-निर्माण इतना प्रौढ़ नहीं है।

पहले वर्ग के पात्र जैनेन्द्र के लक्ष्य की सिद्धि अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं। दूसरे वर्ग के पात्रों में उनके आदर्शों का प्रत्यक्ष प्रतिपालन है और अन्तिम वर्ग के पात्र तो जैसे आदर्शों के साक्षात प्रतिरूप हैं। श्रीकान्त, कान्त और नरेश के चरित्र जैसे उनकी स्पष्ट से स्पष्टतर व्याख्याएँ हैं।

सभी उपन्यासों में एक ही उद्देश्य प्रधान होने के कारण ही उनके पात्रों में ये समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। न केवल प्रत्येक उपन्यास में कम से कम एक पात्र चिन्तनशील अवश्य होता है, बल्कि इन पात्रों के चिन्तन में भी समानता देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए 'कल्याणी' में वकील साहब कहते हैं, "पर मनुष्य सोचता रहता है और होनहार होता रहता है। यह नहीं कि होनहार में मनुष्य के सोच विचार की गिनती नहीं। सच यह है कि जो होता है, हमारे द्वारा ही होता है। फिर भी वृथा विचार कष्ट ही उपजाता है। इससे आवश्यक है कि विचार हो तो अव्यर्थ हो। भवितव्य के साथ जो मंतव्य एकरस हो, वह ही है, शेष क्लेश है।"[1]

१. "कल्याणी" · पृ० ७०।

प्रमोद भी नियतिवादी है। वह सोचता है, कि बहुत कुछ दुनिया में हो रहा है वह वैसा ही क्यों होता है, अन्यथा क्यों नहीं होता—इसका क्या उत्तर है ? उत्तर हो अथवा न हो, पर जान पड़ता है कि भवितव्य ही होता है, नियति का लेख बंधा है। एक भी अक्षर उसका यहाँ से वहाँ नहीं हो सकेगा। वह बदलता नहीं, बदलेगा नहीं पर विधि का यह अतर्क्य लेख किस विधाता ने बनाया है, उसका उसमें क्या प्रयोजन है, यह भी कभी पूछ कर जानने की इच्छा की जा सकती है या नहीं।"[1]

इसी प्रकार सुखदा, भुवनमोहिनी और जयन्त की विचार-धारायें भी नियतिवाद की इसी प्रणाली में बहती देखी जा सकती हैं।[2]

कुछ पात्रों का चरित्र-निर्माण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, एक ही रीति से हुआ है। कुछ समान घटनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया भी समान ही होती है। घर में बाहरी तत्त्व—हरिप्रसन्न—के प्रति श्रीकान्त के जो भाव हैं, वे इस प्रकार हैं, "तुमसे कहता हूँ कि उसकी किसी बात पर बिगड़ना मत। सुनीता, तुम मुझे जानती हो। जानती हो कि मैं तुमको गलत नहीं समझ सकता। तब तुम से मैं चाहता हूँ कि इन कुछ दिनों के लिए मेरे ख्याल को अपने में से तुम बिल्कुल दूर कर देना। सच पूछो तो इसीलिए मैं यह अतिरिक्त दिन यहाँ बिता रहा हूँ।...... सुनीता, मुझे उसकी (हरिप्रसन्न की) भीतर की प्रकृति की बात नहीं मालूम। तो भी तुमसे कहता हूँ कि तुम इन दिनों के लिए अपने को उसकी इच्छा के नीचे छोड़ देना। यह समझना कि मैं नहीं हूँ। तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नहीं है।"[3]

नरेश भी जितेन को लेकर चिन्ता-मग्न है। उसे "ध्यान आया अतिथि का, जो आया था और अब चला गया है। वह पहले प्रेमी था। लेकिन बाद में भी प्रेमी हो, निरन्तर प्रेमी हो, तो मुझे उसमें क्या करना है ? क्या मेरा आशीर्वाद है कि ऐसा हो ? हाँ, है आशीर्वाद। मेरी मोहिनी को सबका प्रेम मिले। सब ही का प्रेम मिले। क्या उसकी मेरी होने की सार्थकता तभी नहीं है कि अभिन्नता इतनी हो कि मेरा आरोप उस पर न आये।"[4]

१. "त्यागपत्र"—पृ० ३६।
२. द्रष्टव्य—क्रमशः "सुखदा"—पृ० २०३, विवर्त—पृ० ६२ व व्यतीत—पृ० ६२।
३. "सुनीता"—पृ० १३५-३६।
४. "विवर्त"—पृ० १४६।

सुखदा और लाल के बढ़ते हुए सम्पर्क को देख कर कान्त की प्रतिक्रिया भी नरेश से भिन्न नहीं है।[1]

यह तीनों ही पति अपनी पत्नियों पर अपने स्वत्व का आरोप नहीं करते हैं। उन्हें यह स्वीकार नहीं है कि उनके होते हुए उनकी पत्नियों को किसी अन्य से प्रेम करने का अधिकार नहीं है।

यदि हम यहाँ क्रान्तिकारियों के चरित्र-चित्रण के औचित्य के प्रश्न को जैनेन्द्र के दृष्टिकोण से ही देखें तो भी यह निश्चित है कि ऐसे पात्रों के चरित्रांकन में बहुत साम्य है। न केवल क्रान्ति के क्षेत्र में ले जाने वाले प्रेरक तत्त्व समान हैं, प्रत्युत उनके कार्य-व्यापार भी एक दूसरे से अधिक भिन्न नहीं हैं। जितेन के जीवन में तो भुवनमोहिनी का महत्व अत्यधिक है ही, हरिप्रसन्न और लाल की भी एक बहुत बड़ी कमजोरी 'स्त्री' है। जिस प्रकार मोहिनी जितेन के दल के भंग होने का कारण बनती है, उसी प्रकार लाल और सुखदा के सम्बन्ध के कारण हरीश को दल का विघटन करना पड़ता है। हरिप्रसन्न के प्रसंग में भी यह कहा जा सकता है कि सुनीता के कारण ही वह अपने दल के प्रति थोड़ा असावधान हो जाता है और उसके दल पर पुलिस का आक्रमण होता है। इसके अतिरिक्त रो कर अपनी दुर्बलता व्यंजित करना, और सदा वाग्विदग्ध पर निष्क्रिय रहना उक्त तीनों ही पात्रों में समान रूप से पाया जाता है। हरीश का भी व्यक्तित्व सुलझा हुआ नहीं है, उसमें भी कहीं न कहीं उलझन है, इसकी ध्वनि हमें सुखदा के कथन में मिल जाती है। इसी उलझन के कारण, जिसके ठीक-ठीक स्वरूप के विषय में हम अज्ञान में हैं, हरीश आत्म-समर्पण करने के लिये बाध्य हो जाता है।

प्रस्तुत विवेच्य उपन्यासों में नारी पात्र भी एक दूसरे से बहुत मिलते-जुलते हैं। कट्टो, कल्याणी, सुनीता, मृणाल, सुखदा, मोहिनी आदि सब स्त्री पात्रों के चरित्र का मूल तत्त्व उनके हृदय की करुणा है। ये सभी चरित्र करुणा और प्रेम से सिक्त हैं। सुखदा को छोड़ कर सभी के निर्माण के मूल श्रद्धा और अहिंसा हैं। सुखदा में अहम्मन्यता अधिक थी जिसकी वजह से वह पति कान्त से तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकी थी, किन्तु अब उसमें अमित पश्चात्ताप की अग्नि धधक रही है और कालुष्य जल रहा है। वह करुणा और प्रेम की महत्ता को समझ रही है। कट्टो में उत्सर्ग के लिये अगाध श्रद्धा है। विवाह भंग करने पर भी, सत्यधन के प्रति कट्टो

1. "सुखदा"—पृ० १२६-२७।

में विसर्जन का ही भाव है। बिहारी की सरलता और प्रेमल स्वभाव ने उसका हृदय जीत लिया है और वह सत्यधन के समक्ष ही बिहारी को अपने अन्तरतम में स्थान देती है। कल्याणी को अपने पति से प्रेम नहीं है, लेकिन फिर भी वह भरसक कोशिश करती है कि उनके प्रति उसका विरोध अथवा अप्रेम प्रकट न हो। वह सदा डा॰ असरानी के प्रति आभारी और कृतज्ञ ही दिखाई देती है। मृणाल के व्यक्तित्व को परिस्थितियों ने करुणा से इतना आपूरित कर दिया है कि वह कोयले वाले को भी अस्वीकार नहीं कर सकी। सुनीता और मोहिनी दोनों क्रमशः हरिप्रसन्न और जितेन की प्रचण्डता और दुर्दमता को अपने प्रेम और अहिंसात्मक व्यवहार से साधारणता के स्तर पर ले आती हैं। अनिता को यद्यपि जयन्त से प्रेम है किन्तु अपने पति की ओर भी वह लापरवाह अथवा श्रद्धाशून्य नहीं है। चन्द्री में आधुनिक नारी की अहम्भावना सशक्त है किन्तु काल के व्यवधान से उसका अहं भी करुणा और आत्म-व्यथा में घुल गया है। इस प्रकार प्रेम और आत्म-व्यथा ही जैनेन्द्र के नारी पात्रों के चरित्र-निर्माण के प्रमुख उपकरण हैं।

उपन्यासों में चरित्रों का यह साम्य अपनी अधिकता के कारण दोष बन गया है। चरित्र-वैचित्र्य की यह न्यूनता जो एक ही आदर्श के उपपादन के कारण है, जैनेन्द्र की कला की एक सीमा बन जाती है और अरोचकता को उत्पन्न करती है। यदि एक से ही चरित्रों की अवतारणा सभी उपन्यासों में की जाये तो यह प्रभाव की दृष्टि से अवाञ्छित ही है। कदाचित् स्वयं जैनेन्द्र ने इस बात का अनुभव किया प्रतीत होता है क्यों कि नवीनतम कृति "व्यतीत" में जयन्त का चरित्र-निर्माण, बाह्य रूप में, नये ढंग पर हुआ है।

फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि चरित्रांकन में जैनेन्द्र की कला असाधारण है। जहाँ एक ओर इन उपन्यासों में सुखदा, जितेन, जयन्त, कल्याणी आदि विशद पात्रों का सुन्दर व सफल निर्माण हुआ है, वहाँ दूसरी ओर सत्या, त्रिप्री, प्रभात, बुधिया, कविता आदि लघु पात्रों के विधान में भी स्तुत्य प्रौढ़ता और सौन्दर्य का निदर्शन मिलता है। ये पात्र अत्यधिक प्राणवन्त और स्वतः-सम्पूर्ण हैं। इनमें वैयक्तिक भिन्नता इतनी स्पष्ट है कि यह वैविध्य उत्पन्न करने में लेखक की कला-शक्ति की ओर एक इंगित है, जिसका परिचय हमें उसके विशद चरित्र-निर्माण में अधिक नहीं मिलता है। वास्तव में ये लघु चरित्र गढ़ी हुई वे मूर्तियाँ हैं जिनमें मूर्तिकार ने अपनी कला-साधना को मूर्त्त किया है। सुखदा व मृणाल जैसी अमर सृष्टियों के साथ में ये भी अविस्मरणीय हैं।

मानव की सूक्ष्म अन्तरानुभूतियों का अंकन जैनेन्द्र के उपन्यासों में अत्यन्त सम्पन्न हुआ है। मन की जटिल और सूक्ष्म गतियों को पकड़ना और उनको समर्थ शब्दावली में उपस्थित करना चरित्र-चित्रण कला का एक अत्यधिक अभीष्ट गुण है। इस दृष्टि से जैनेन्द्र की कला की सिद्धि स्वयं-सिद्ध है। अहम् का काठिन्य कितना प्रबल होता है और किस प्रकार समस्त चेतना को अभिभूत किये होता है, यह जयन्त और सुखदा के चरित्रों के अध्ययन से समझ में आता है। उदाहरण के लिये अनुताप से दग्ध होने पर चन्द्री के जयन्त से माफ़ी माँगने के प्रसंग को हम यहाँ लेते हैं। "चन्द्री घुटनों गिर आई। पलँग की पाटी तक मेरे दाहिने हाथ को खींच उस पर माथा टिकाते हुये बोली," मुझे माफ़ कर दो, इतना भी माफ़ नहीं कर सकते?" "किन्तु जयन्त का अहंकार उसे झुकने नहीं देता।"

मेरा कष्ट मुझ से झेलते न बना। इसीलिये अपना हाथ खींच लिया। और जरा तीखे होकर कहा, "कह दो वह (कपिला) जायें। गुलदस्ता भी वापिस दे दो।"

आगे फिर—

"औंधी पड़ी सिर को धीमे-धीमे वह फ़र्श के कालीन पर पटकती और रह-रह कर फफक आती। मैं वह सब आराम से सुनता रहा। आराम से ही तो कहूँ, क्योंकि हृदय चाहे कितना भी विदीर्ण होता रहा मेरे आराम में भंग नहीं पड़ा। अंग-प्रत्यंग हिला तक नहीं, परम व्रती बना मैं सब पीता गया और चुपचाप रहे चला गया।"

सुखदा की भी लगभग यही मनःस्थिति है।—"नहीं मालूम मुझे क्या हो आया था ……………………जानती थी कि पति लज्जित हैं, जानती थी कि जो हरीश के मन बँध गया था उससे अन्यथा नहीं हो सकता था। जानती थी कि मेरे स्वामी दोष के पात्र नहीं हैं, सहानुभूति के ही पात्र हैं, लेकिन फिर भी उस समय मैंने कितने तीखे तीरों से उन्हें घायल किया था, याद करती हूँ तो आज भी मन परिताप से भर जाता है।"

मन की दारुण अवस्था का कितना सशक्त चित्रण है।

मानव की अन्तरात्मा में प्रवेश करके अन्तर्रहस्यों के उद्घाटन के लिये जिस सूक्ष्म, तलस्पर्शी और मर्मभेदी दृष्टि तथा विश्लेषण-शक्ति की अपेक्षा रहती है, वह जैनेन्द्र की कला में इतनी प्रचुर मात्रा में और इतनी उच्च कोटि की है कि मानो

वह जैनेन्द्र की लेखनी का स्वभाव ही है। वस्तुतः अचेतन मन के रहस्य-स्थलों के अन्वेषण और विश्लेषण की शक्ति जैनेन्द्र की औपन्यासिक कला की अमूल्य विभूति है। उदाहरण के लिये जयन्त द्वारा अपनी ही मन:स्थितियों का आत्म-विश्लेषण देखिये—"मैंने कहा, सन्तोष है। लेकिन आज इस पैंतालीसवें जन्मदिन पर आकर सब हिल गया मालूम होता है। सन्तोष से अब सन्तोष नहीं है। लगता है, यह कहीं मेरा अपना गर्व तो न था? तब से अब तक की जिन्दगी को एक हठ की कर्कशता ही तो थामे नहीं रही है? जिसको दृढ़ता समझे जाता हूँ, वह कहीं भीतर की तिक्तता तो नहीं है? अपने बल पर रहना आया हूँ जो बना बनता आया हूँ, अनेकों को स्पर्श में लेकर और अनेकों के स्पर्श में आकर अस्पृष्ट ही रहता गया हूँ। अपने को बाँटा नहीं है, पूरी तरह संयुक्त जो रखा है, सो यह निपट अहं का अवलम्ब तो नहीं है? कुछ इसी दुविधा में पड़ कर आज मैं यह कहानी ले बैठा हूँ।"[1]

हरिप्रसन्न का मनोव्यवच्छेद भी देखिये—"श्रीकान्त अपने मित्र की दुविधा की चिन्ता रखता है। वह सुनीता, जो श्रीकान्त की पत्नी है, उसका बराबर ख्याल रखती है, यह लड़की सत्या भी तो धीरे-धीरे इसके निकट जा कर मानो उसकी प्रसन्नता में योगदान करती है, उस हरिप्रसन्न को यह सब घूस-सा लगता है। अब तक जिन्दगी में मानो आग्रहपूर्वक वह अपने लिये जगत् से सब लेता पाता और भोगता रहा है। जो लिया, उसे उसने कभी जग का ऋण न माना। अपना स्वत्व ही माना है। लेकिन कभी वह चुका नहीं है। उसका उपयोग करके वह बलिष्ठ ही हुआ है। लेकिन इस घर के लोगों पर उसका स्वत्व भाव तो मानो आदि दिन से ही स्वीकृत है, उसके प्रति इस घर में तनिक भी रुकाव, अवरोध नहीं पाता है। तब किसके विरोध में उसकी आग्रही वृत्ति टिके? इसलिये यहाँ आकर उसके स्वभाव की तेजस्विता मानो पुचकारी हुई सी बैठनी जाती है। उसका आग्रह मन्द पड़ता जाता है। उसकी इच्छा शक्ति के व्यय के लिये मानो यह चित्र उसे मिल गया। उसी तरह वह व्यय हो कर अचेत रहे। अन्यथा इस परिवार के बीच में वह प्रबल इच्छा-शक्ति मानो आराम पाकर ऊँघ जाना ही चाहती है।"[2]

मनोमन्थन की इस शक्ति का प्रदर्शन न्यूनाधिक रूप में सभी उपन्यासों में देखने को मिलता है।

---

१. "व्यतीत"—पृ० ८

२. "सुनीता"—पृ० ११५-१६

जैनेन्द्र के नारी-मनोविज्ञान के ज्ञाता का रूप उनके उपन्यासों में खूब ही निखरा है। सुखदा मनोवैज्ञानिक चरित्र-विधान की दृष्टि से हिन्दी साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृतियों में से है। सुखदा के चरित्र में नारी की मूल प्रवृत्तियों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ :—

"हम स्त्रियों की यह क्या गति है ? चाहती हैं कि पुरुष को झुकायें और झुक जाता है तो उसी दोष के लिये उससे नाराज होतीं हैं। मैंने कभी उनसे (कान्त से) अपेक्षा नहीं की है कि वह मुझ पर कभी रुष्ट या पुष्ट न हों, लेकिन जब दोष और ताड़ना के अवसर पर वे विनम्र हो कर रह गये हैं तो यह मेरे लिये असह्य हो गया है।" अथवा

"स्त्री का यह क्या हाल है ? क्या है जो उसको ऐसा अवश कर जाता है कि वह स्वयं नहीं रह जाती, गल कर पानी बन जाती है। पुरुष उसे लेने उसकी ओर आता है तब वह उसे इतना समझती है कि समझने को कुछ बाकी नहीं रहता, कुछ चुनौती नहीं रहती। पर जब वह नहीं आता उसमें बल्कि या तो उसे लाँघ कर या उससे लौटकर जाता, वह कहीं किसी अनबूझ में है, वहाँ जहाँ उसे कुछ पकड़ने को मिलता ही नहीं तब स्त्री को एक साथ क्या हो आता है ? जैसे इस असह्य अपमान की बराबरी करने का उसका सारा मन एक ही साथ आकर पलड़े में झुक पड़ने को आतुर हो जाता हो। उस अनबूझ की ओर बढ़ते हुए पुरुष का पीछा करके एक बार तो उसका मुँह अपनी ओर कर देखने को आन पर जैसे वह प्राणपन से तुल आती है। तब कहीं कुछ उसके लिए नहीं रह जाता। न कहीं वर्जन रहता है, न कहीं पाप रहता है, न समाज रहता है। मानो वह होनी है और सामने चुनौती। तब अपने में वह रह नहीं पाती, अपने को अतिक्रमण उसे करना ही पड़ता है। स्त्री इस चुनौती के जवाब पर देवी बन आती है, डायन बन जाती है और स्वयं देख कर विस्मय में रह जाती है कि वह कब स्त्री नहीं रही।"[1]

वास्तव में मन के रहस्यों में जैनेन्द्र की अद्भुत गति है। निम्नलिखित उद्धरण में उन्होंने स्त्री-पुरुष को तमाम नाते-रिश्तों से विलग करके उनके पारस्परिक मूल सम्बन्ध के प्रति अपने विचार प्रकट किये हैं।—"हम कहते हैं कि पति और पत्नी, प्रेमी और प्रेयसी, माता और पुत्र, बहिन और भाई, यह सब ठीक है। ये तो स्त्री-पुरुष के मध्य परस्पर योगायोग के मार्ग से बने नाना सम्बन्धों के लिये हमारे

१. "सुखदा"—क्रमशः, पृ० ७८ व १७३-७४—सुखदा से लिए दूसरे उद्धरण में जो काव्य-रचना के दोष हैं वह मूल के हैं, मुद्रण के नहीं।

नियोजित नामकरण है। किन्तु सर्वत्र, कुछ बात तो समभाव से व्यापी है। सब जगह स्त्री-पुरुष इन दोनों में परस्पर दीखता है आंशिक समर्पण, आंशिक स्पर्धा। सब कहीं एक दूसरे के प्रति इतना उन्मुख है कि वह उसको अपने भीतर समा लेना चाहता है। सब नातों के बीच में और इन सब नातों के पार भी, यही है। एक में दूसरे पर विजय की भूख है। किन्तु एक को दूसरे के हाथों पराजय की चाहना है ही। एक दूसरे को जीतेगा भी, किन्तु उसके लिये मिटेगा भी कैसे नहीं? दोनों में परस्पर होड़ है, उतनी ही तीव्र, जितनी दोनों में परस्पर के लिए उत्सर्ग होने की कांक्षा। यह दोनों विरोधी भाव एक दूसरे के बीच में सम तोलते हैं। समतोल इसलिए नहीं कि वे बँटे हुए हैं, प्रत्युत इसलिए कि वे दोनों ही वहाँ अपनी पूर्णता में हैं। जहाँ इन दोनों को विरोध भी सिद्ध है और समन्वित ऐक्य भी, उस विस्फोटक महा तत्त्व के लिए, अरे क्या शब्द है? उसे किस संज्ञा के सहारे निर्देश करके हम भौंचक रह जाते हैं।"[१]

मानसिक संघर्ष के चित्रण में भी जैनेन्द्र की लेखनी समान रूप से प्रगल्भ है। श्रीकान्त और हरिप्रसन्न को लेकर सुनीता के मन में बड़ी उलझन है। हरिप्रसन्न के साथ उसे जाना चाहिये या नहीं। सुनीता इसी समस्या के कारण चिन्तामग्न है। उसे भय है कि वह हरिप्रसन्न के साथ वह जायगी "और वह पत्नी है, फिर भी नारी है। कौन अपने आप में पूर्ण है? कौन विमुखता में, नकार में पूर्ण होना चाहता है? और उसकी उम्र अभी है भी कितनी? उसमें क्या जगत् के प्रति उत्सुकता सर्वथा शान्त हो गई है। वह भव वैचित्र्य के प्रति जिज्ञासु और सामर्थ्य के प्रति उन्मुख नहीं रही है? वह क्या हाड़-माँस की नहीं है? वह पत्नी है, पर नारी है। वह पति में ही नहीं, स्वयं भी है।" घोर वेदना के बाद वह श्रीकान्त में पुनरास्था प्राप्त कर लेती है। स्वस्थ हो कर आग्रह से हरिप्रसन्न के साथ उसके दल की ओर चल पड़ती है।

कल्याणी के मन का द्वन्द्व अत्यन्त प्रखर है। वह सम्पूर्ण चेतना से अपने पति डा० असरानी की ओर सकरुण और समर्पण भाव से रहना चाहती है। किन्तु अपने अन्दर वह इतनी अतृप्त और अशान्त है कि उसका अवचेतन मन बराबर संघर्ष करता है कि वास्तविकता ऊपर आ जाये। और वह इसमें सफल भी हो जाता है। कल्याणी एक "हैल्यूसिनेशन' से आक्रान्त हो जाती है और उसमें वह गर्भिणी स्त्री की उसके पति द्वारा की गई हत्या को देखती है। वस्तुतः वह स्त्री और कोई

---

१. "सुनीता"—पृ० १००-१

नहीं, स्वयं कल्याणी है। उसने उस स्त्री में आत्मप्रवेश किया है। अतः संघर्ष का कितना प्रखर वर्णन हमें इस कथा में मिलता है।

सुनीता में भी संघर्ष अपने तीव्रतम रूप में सामने आता है। उसका समस्त चरित्र ही समर्पण और स्पर्धा के द्वन्द्व की करुण कहानी है।

"व्यतीत" में भी यह द्वन्द्व एक ही व्यक्ति में समाहित है और वह जयन्त है जो जिन्दगी के बृहत् भाग में अपने से ही संघर्ष करता रहता है।

पर 'विवर्त' में दो भिन्न व्यक्ति (जितेन और मोहिनी) इन दो तत्वों (स्पर्धा—समर्पण) के प्रतिनिधि बन कर आते हैं। नरेश के रूप में स्वयं साकार समर्पण मोहिनी के पक्ष को दृढ़ कर रहा है। यह संघर्ष इतनी सीमा पर पहुँच जाता है कि "स्पर्धा" की कमर टूट जाती है और जितेन के रूप में वह समर्पण कर देती है।

किन्तु "त्यागपत्र" में यही संघर्ष अत्यधिक सांकेतिक है। मृणाल के आत्मोत्सर्ग का प्रमोद पर विशेष प्रभाव पड़ता नहीं दीखता। वह समाज और वकालत व जजी की मान-प्रतिष्ठा पर बैठा है। किन्तु यह संघर्ष अन्दर ही अन्दर तीव्रतर से तीव्रतम होता जाता है और "त्यागपत्र" के रूप में उसका विस्फोट हो जाता है।

वास्तव में जैनेन्द्र के उपन्यासों में चरित्रों का इतना अधिक महत्व है कि यदि हम कहें कि जैनेन्द्र ने चरित्रों की ही सृष्टि की है, कथा का निर्माण उनको अभीष्ट नहीं है, तो अत्युक्ति न होगी। उनके तमाम उपन्यास चरित्र-प्रधान हैं और उनके विधान में विलक्षण कौशल व हस्तलाघव का योग रहा है। "हम लोग पहले बार उनकी रचनाओं में कथा पढ़ते है और दूसरी बार चरित्र पढ़ते है।" [1] प्रेमचन्द ने उपन्यास की जो परिभाषा दी है उसकी कसौटी पर जैनेन्द्र के उपन्यास खरे उतरते हैं। "मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।"

(इ) कथोपकथन

कथोपकथन उपन्यास की रचना में तीसरा महत्वपूर्ण उपकरण है। इसका सम्बन्ध कथावस्तु और पात्र दोनों से ही है। उपन्यास में कथोपकथन की आवश्यकता निम्नलिखित कारणों से हो सकती है :—

१. "सरस्वती" (मार्च १९५३)—सम्पादकीय—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी।

(१) कथाक्रम के विकास के लिए,

(२) पात्रों के व्यक्तित्व को उद्घाटित करने के लिए,

(३) पात्रों के भावों व विचारों के प्रकाशन का माध्यम होने के कारण,

(४) नाटकीयता की सृष्टि करके रोचकता की उत्पत्ति के हेतु।

किन्तु आज उपन्यास के क्रियाकल्प के सम्बन्ध में विद्वानों और लेखकों की धारणाएँ व्यापक हो चुकी हैं और उपन्यास में अब कथोपकथन अनिवार्य नहीं समझा जाता। पश्चिम में ऐसे अनेक उपन्यास रचे जा चुके हैं जिनमें कथोपकथन का उपयोग नहीं किया गया है—जैसे, वर्जीनिया वुल्फ़ का उपन्यास 'द वेव्ज' ('The waves')। किन्तु हिन्दी उपन्यासों में अभी कथोपकथन की महत्ता पूर्ववत् ही है।

जैनेन्द्र ने अपने उपन्यासों में परिपाटी के अनुसार ही, कथोपकथन का उचित मात्रा में प्रयोग किया है। उनकी इन रचनाओं में वर्णन, विवरण, चिन्तन, विश्लेषण और कथोपकथन का सुन्दर सामंजस्य है।

ये कथोपकथन निरुद्देश्य नहीं हैं, इनमें कथा को अग्रसर करने की यथेष्ट शक्ति है। केवल रोचकता ही लाने की दृष्टि से जैनेन्द्र ने इनका प्रयोग नहीं किया है। इनमें कथा के विकास में एक कड़ी बनने की सार्थकता है। इनसे हमें कुछ न कुछ ऐसी बातों का पूर्वाभास मिलता है जो आगे महत्वपूर्ण हैं।

आलोच्य उपन्यासों के कथोपकथन चरित्रों पर प्रकाश डालने में भी समर्थ हैं। न केवल ये कथा के विकास में सहयोग देते हैं, अपितु चरित्रों का उद्घाटन भी उनका कार्य है। उदाहरण के लिए बिहारी और कट्टो (परख) का वार्तालाप देखिए—

"मैं दिल्ली से सत्य के लिए विवाह प्रस्ताव लेकर आया हूँ।"

"तो— ?"
'तो तुम्हें इससे कुछ मतलब नहीं ?'
'कुछ नहीं।'
'तुमने गरिमा का नाम सुना है ?'
'नहीं।'
'मैं उस का भाई हूँ।'

'अच्छा।'..........

'अभी जो थोड़े ही दिन हुए सत्य गया था तो हमारे ही साथ गया था।'

'हूँ ....।'

'मैं यहाँ से विवाह की बात पक्की करने आया हूँ।'

'पक्की हो गई ?'

'बिल्कुल तो नहीं। लेकिन ....'

'झूठ बोलते हो।'

'झूठ क्या ?'

'यही कि विवाह की बात पक्की हो गई। तुम वृथा आए हो। विवाह की बात पक्की नहीं कर सकोगे।'

'यह तुम कैसे कहती हो ?'

'मैं कहती हूँ।'

'लेकिन तुम भूल में हो।'

'नहीं हो सकती।'

'हो तो—?'

'हो नहीं सकती।'

'परमात्मा करे, मैं झूठ बोल रहा हूँ। मालूम होता है, सत्य असमंजस में है। वह शायद मेरी बहन के साथ ही शादी करने को लाचार हो। मुझे यही दीखता है।'

'............... .....?'

'लेकिन मालूम होता है, वह बन्धन में है। तुम उसे खोल सकती हो।

'ओह, क्या कहते हो ? मेरा कैसा बंधन !! मैंने कब क्या बाँधा है जो खोल सकूँ ? मैं क्या बाँधे रखने लायक हूँ ? लेकिन यह सब तुम क्या कह रहे हो ? जानते हो, यह उससे कह रहे हो जिसके लिए यह बातें कहीं न कहीं सब बराबर हैं।'

'मैंने सत्य से पूछा है, बातें की हैं। उसने सारी बातें मुझ से खोल कर कह दी हैं। अगर उसे अपनी बात का ख्याल न हो, तो उसकी खुशी, मैं जानता हूँ, किधर है।'

'उनकी खुशी के लिए मेरा तन ले लो, पर मुझ से ऐसी बात न करो।'

कट्टो का सत्यधन पर कितना प्रडिग विश्वास है। किन्तु जब उसे सत्यधन का दृष्टिकोण मालूम होता है तो वह जैसे प्रपदार्थ बन गई है। सत्यधन से अपने प्रेम के कारण वह अपने को न्योछावर करने के लिए प्रस्तुत है।

इन कथोपकथनों में नाटकीयता का गुण भी प्राचुर्य से मिलता है। नाटकीयता की उत्पत्ति के लिए आकस्मिकता, सजीवता और अभिनयात्मक स्वाभाविकता की आवश्यकता होती है। निम्नलिखित कथोपकथन नाटकीयता की दृष्टि से उद्धृत किये जाते हैं :—

सुखदा एक लड़के से पूछ रही है—

'बरतन माँजना जानते हो ?'

'हाँ।'

'कहार हो ?'

'नहीं।'

'फिर ?'

'कहार हूँ।'

'क्या लोगे ?'

'जो आप दे देंगे।'

'पढ़े-लिखे मालूम होते हो ?'

'नहीं जी।'

'कुछ नहीं पढ़े ?'

'सुखदा' में से ही एक और उदाहरण देखिए—

कान्त सुखदा से कह रहा है, 'सुखदा, आओ, यहाँ बैठो।'

'कहिए मैं हूँ तो।'

'नहीं, इधर आओ।'

'आप खाने को कहते हैं न ? खाइए, मँगवाइए, खा लेती हूँ।'

'इधर आओ।'

'क्या है, लीजिए।'

'सच कहो, खाना खाया था ?'

'कह तो दिया, खा लिया ।'

'सुखदा……!'

'…… कहिए ?'

'मुझे तुम से डर लगने लगा है, सुखदा । तुम मुझ से सरकी जा रही हो

'(हँस कर) कहाँ जा रही हूँ सरक कर ?'

'जाने कहाँ जा रही हो ।'

'तुम तो खाना मँगा रहे थे ।'

'अच्छी बात है, लाता हूँ ।'

सुखदा के उत्तरों में उसके अहम् के काठिन्य से उद्भूत दूरी का भाव व्य
हो रहा है ।

नाटकीयता वास्तव में जैनेन्द्र के कथोपकथनों में एक सर्वसाधारण गुण
इसकी झलक उनके सभी उपन्यासों में मिलती है । 'व्यतीत' में से उद्धृत एक
को देखिए—

चन्द्री जयन्त से पूछ रही है—

'जा रहे हो ?'

'हाँ, जा रहा हूँ ?'

'बम्बई नहीं आ रहे ?'

'नहीं ।'

'लेकिन मुझे जाना होगा ।'

'जाइए ।'

'विलायत भी जाऊँ ?'

'जाइए ।'

यह कह कर जयन्त आगे बढ़ता है पर—

'सुनिये ।'

जयन्त जब मुड़ कर देखता है तो—

'[illegible] कौन बात [illegible] ?'

'बैठिए।'

'मैंने कहा था, नहीं जाऊँगी। अब कहती हूँ जाऊँगी, जाऊँगी, जाऊँगी। रोक लो तुम से हो सके तो।'

"जाइए और हटिए।"

"हट जाऊँ ?···क्यों कहा था तुमने, मत जाओ।"

"—गलती की थी। मुझे कोई हक न था। कुएँ में गिरने का सबका अधिकार है। मैं कौन होता हूँ।" इत्यादि, इत्यादि।

मन की प्रखरता और आक्रोश जैसे इन संवादों में प्राणवन्त हो उठे हों।

कथोपकथन में हास्य का पुट भी जैनेन्द्र ने कहीं-कहीं दिया है। यथा 'परख' के इस प्रसंग में—

बिहारी ने गरिमा को पुकारा—

"गिरी !—गिरी !···"

"मैं—छि—छि—भैया—छि—"

गरिमा रसोई में थी और वहाँ मिर्चों के भाग में पड़ जाने का यह परिणाम हुआ कि गरिमा बार-बार छींक रही थी।

"यह क्या मामला है ?"

"यह कम्बख्त—आक् छि:, हैम ··छि····"

"यह छि: और गुलकदों की बौछार मेरे आगे ही ''

"यह हैम रैस्कल'''आ—आ क्'' छि ''

"मुझे माफ़ करो, मैं चला जाता हूँ भाई।"

"शैतान, बस से ही छि: '' छि:'''छि: छि: ''

"गिरी ··· ''

"वह महाराजिन कल से नहीं रह सकती। मैं कहती हूँ···"

"मेरी बात सुनती हो या '' "

"सुनती हूँ, लेकिन तुमने ही···"

"हाँ, मैंने ही दृष्टि रखी, और मैं ही बिगड़—"

"तुमने ही यह महाराजिन रखवाई थी।"

"अब दोष नहीं होगा, तो। बस, अब तो स्वस्थ हुई ?··· या अब···"

"स्वस्थ की बात नहीं, कोई न कोई गड़बड़ कर ही देती है।"

"अच्छा, अब इस अध्याय को समाप्त करो। प्रकोप पर्व समाप्त, नवीन पर्व प्रारम्भ। सुनो····"

किन्तु जैनेन्द्र के अधिकांश प्रमुख पात्र असाधारण हैं, अतएव उनकी भाषा का भी असाधारण होना स्वाभाविक है। चूंकि ये पात्र चिन्तन और मनोव्यवच्छेद में रुचि लेते हैं, अतः उनकी भाषा भी इतनी गम्भीर है और समर्थ है जिससे कि वे अपने मनोभाव व विचार स्पष्टता और निश्चितता (accuracy) के साथ व्यक्त कर सकें। परिणामतः जहाँ एक ओर उनके संवादों में नाटकीयता और सरलता का गुण वर्तमान है, वहाँ दूसरी ओर अनेक स्थलों पर उनके संवादों की भाषा गम्भीर, और ओजपूर्ण है। उनमें स्वाभाविकता और सजीवता, अपने आप ही कम हो जाती है। 'सुनीता', 'सुखदा', और 'विवर्त' में जब क्रान्तिकारी पात्र उत्तेजित हो कर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं, तो उनमें रोचकता अधिक नहीं रही है। फिर भी जैनेन्द्र ने पात्रों की बौद्धिकता को उनके कथोपकथनों पर हावी नहीं होने दिया है। इसलिए जहाँ कहीं भी इसको संवादों में अवकाश मिला है, वह नियम नहीं, है, अपवाद ही है।

गौण पात्रों के संवादों की भाषा भी सरल, स्वाभाविक और सुबोध है। स्वाभाविकता का इतना अधिक विचार किया है कि 'किन्नें' 'तैने', 'तुम्है', 'रीत-जीत' आदि कथित भाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया गया है।

ऋजुता, बोधगम्यता, स्वाभाविकता आदि गुणों का आविर्भाव कथोपकथनों की भाषा में व्यास शैली के कारण ही सम्भव हुआ है। जैनेन्द्र ने उपन्यासों में संवादगत भाषा का निर्माण नियमतः ही छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा किया है। संवादों में गम्भीर विषय को भी लेखक ने अपनी व्यास-शैलीपरक भाषा से सुबोध बना दिया है। यथा धन की सामाजिक प्रतिष्ठा पर हरिप्रसन्न के विचार देखिए—"अब आदमी दुनियादारी में मारो-मरकम चाहिए और पैसे से पुष्ट चाहिए। तब राष्ट्र की राजनीति उसे पहचाने। मैं वस्तुओं के इन प्रचलित मूल्यों का कायल नहीं हूँ। पैसे वाला क्यों बना जाये ? आप पैसे वाला होना दस औरों को उससे वंचित रखना है। और अगर कोई पैसे वाला बनता है तो मेरा ख्याल है, इस कारण उसे बल्कि निम्न समझना चाहिए। लेकिन वस्तुओं की बाजार-दर को न मानकर मैंने अपने लिए आदमी

मढ़ी कर ली है कि मैं उखड़ा-उखड़ा रहूँ। जिनको निम्न कहा जाता है, उनसे अपने को तोड़ कर मैं मध्यवर्गीय बनूँ, यह मुझे स्वीकार नहीं। इ क्या हो ? ...''इत्यादि।

हरीश के संवाद की भाषा देखिए—

''पहली आवश्यक बात है हमारा स्वप्न। अपनी अधिक-से-अधिक चिन्ता, अधिक-से-अधिक लगन उस पर खर्च करनी होगी। उसके बाद कर्म की योजना होगी। नारी कर्म में यदि अक्षम है, तो उसकी क्षमता उससे ऊँचे क्षेत्र में दुर्जय है। आप से कर्म की बातें इससे सामने लाकर नहीं करता हूँ। हमारे सब कर्म-व्यापार निकम्मे हैं, अगर वह स्वप्न को लेकर आगे नहीं चलते। स्वप्न अर्थात् छल, स्वप्न अर्थात् सत्य। स्वप्न निरी छलना है, अगर हमारी श्रद्धा शिथिल है। वही सत्य है यदि श्रद्धा दृढ़ है। नारी माया है, अगर वह निरी मानवी है। दुर्गा होकर वह सत्येश्वर की वामांगिनी है। तभी कहता हूँ, नारी को निरी भावना नहीं रहना होगा। ...''

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जैनेन्द्र की उपन्यास-कला में प्रसंगों की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। और साथ ही इस बात का भी विशेष विचार रखा गया है कि वे प्रसंग अनावश्यक रूप से दीर्घ न हो जायें जिससे कि मन में ऊब पैदा हो। कला के इस गुण में आवश्यकता और दीर्घता की दृष्टि से कथोपकथन के प्रसंगों के औचित्य का प्रश्न भी समाविष्ट है। जैनेन्द्र ने कथोपकथनों का यथेष्ट प्रयोग किया है। किन्तु कहीं भी ये प्रसंग आवश्यकता से अधिक लंबे नहीं हुए हैं। संदर्भ में उनकी संगति और अर्थ-गौरव निश्चित है। मन के भावों और विचारों की सम्यक् अभिव्यक्ति, पात्रों के व्यक्तित्व का उद्घाटन, घटनाओं की प्रगति अथवा यथार्थता की माँग के कारण जैनेन्द्र की इन कृतियों में कथोपकथन के प्रसंगों की अवतारणा हुई है।

जहाँ एक ओर इन उपन्यासों में एक-एक वाक्य अथवा केवल वाक्यांश के कथोपकथन यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं, वहाँ एक-एक अथवा डेढ़-डेढ़ पृष्ठ के भी एक ही व्यक्ति के सम्भाषण कुछ उपन्यासों में मिल जाते हैं। हरिप्रसन्न, हरिदा, जितेन, लाल, और एक-दो स्थल पर कान्त भी, व्याख्यान-सा देते हैं।[1] ये वक्तृताएँ कथा की गति में व्याघात उत्पन्न करती हैं और इनकी दीर्घता, इस कारण अवांछित है।

१. लम्बे-लम्बे सम्भाषण—'विवर्त'—पृ० ८६-८७, ६७-६८, १२६।
'सुनीता'—पृ० १७-१८।
'सुखदा'—पृ० ६३, ८२, ८४, ८५, १००, १०१, १०५, १०६, १०७, १६२-१६३, १८१-१८२, १८४, २००-२०१, २०२।

'व्यतीत', 'कल्याणी', 'त्यागपत्र' और 'परख' इन से सर्वथा मुक्त हैं। वास्तव में कथोपकथन की यह दीर्घता अपवाद ही है।

आलोच्य उपन्यासों में किसी भी पात्र की कथोपकथन की भाषा दूसरे की भाषा से भिन्न अर्थात् विशिष्ट नहीं है। उसमें वैयक्तिक प्रयोगों का अभाव है। सभी पात्रों की भाषा में वाक्य-रचना एक समान ही है। प्रायः सभी पात्र एक ही स्तर की भाषा का प्रयोग करते हैं। भावों और विचारों में असाधारण इन पात्रों को जैनेन्द्र भाषा की विशिष्टता नहीं देना चाहते हैं। यही कारण है कि कथोपकथनों में सामान्य स्वाभाविकता होते हुए भी इन में पात्रों की निजी पसन्दगी-नापसन्दगी नहीं झलकती।

किन्तु भाषा के सम्बन्ध में देश-विदेश की सीमा को जैनेन्द्र ने नहीं माना है। अंग्रेजी पढ़े-लिखे पात्र अंग्रेजी के शब्दों व वाक्यों का पर्याप्त व्यवहार करते हैं। किसी भी अन्य भाषा का अपनी भाषा में प्रयोग दो कारणों से किया जाता है—एक, कथोपकथन में यथार्थता का संस्पर्श लाने के लिये, दूसरे, कहीं-कहीं भावाभिव्यक्ति में अपनी भाषा की असमर्थता के कारण। जैनेन्द्र की भाषा में यदि हमें विदेशी शब्दों का प्रयोग मिलता है तो मुख्यतः संवादों में स्वाभाविकता का पुट लाने के लिये ही। लाल, नरेश आदि पात्रों द्वारा यू आर ए डार्लिंग', 'बोट्स', 'टू प्वाइंट सिक्स', 'लुक हियर', 'शट-अप', 'स्ट्रेंज', 'गुड हैविन्स', 'दैट इज एंण्ड', 'बाई बाई', 'आई-अण्डरस्टैण्ड' आदि अंग्रेज़ी शब्दों का व्यवहार कथोपकथन में सजीवता उत्पन्न करने के लिए करवाया गया है। चड्ढा साहब (विवर्त) की भाषा चूँकि वह पुलिस अफसर है, उर्दू शब्द-बहुल है। तोहमत, इफ़रात, रकीब साहब, हमशीरा, वायस, मुफ़ीद, मकून, आदि उर्दू के शब्दों का प्रयोग भी नैसर्गिकता की उद्भावना के हेतु ही किया गया है। कपिला (व्यतीत) एक बंग महिला पात्र है। इनकी भाषा में बँगला का प्रभाव स्पष्ट है। यथा—"एक कोई पुरी फोन पर तुम्हें पूछा हाय ? बोला है। बोला, बोलना, हम आता है''' कौन है पुरी जयंत बाबू ?" अथवा "किसी घड़ी आने सकता है।' यही नहीं, कपिला के मुख से बँगला के वाक्यों का प्रयोग है, यथा—"तुमी की मानुष'''के होने, आमार शिशेर होलो कि ?" अथवा—'आश्चे, दुई मिनट पोरे आश्चे, तुमी सरकार करीन।" स्वयं जयन्त भी कपिला से बँगला में बोलने का प्रयत्न करता है, "तुमार आशीश चाई।"

हिन्दी की असमर्थता के कारण भी कुछ विदेशी शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा—'सिगार', 'हैंगर', 'चैक', इत्यादि। इन शब्दों के पर्याय हिन्दी में अनुपलब्ध हैं। एक स्थल पर कान्त कहता है, " '' वे आवारा हैं, व्यतिक्रम हैं, फोर्स'

है। विकास के वृत्त पर टेन्जैण्ट की मानिंद हैं।"[1] 'फोकस' और 'टैंजैण्ट' शब्दों का व्यवहार हिन्दी की असमर्थता के कारण किया गया है।

किन्तु कुछ ऐसे अंग्रेज़ी शब्दों का भी उपयोग मिलता है जिनके लिए हिन्दी के समानार्थी शब्द प्रयुक्त किए जा सकते थे और जो कथोपकथन में भी इस्तेमाल नहीं किए गये हैं। 'प्रीमियर', 'रम', 'ड्राइव', 'कप', 'सिप' 'ऐवमेंट', 'सेकेण्ड हैण्ड' आदि ऐसे ही शब्दों के उदाहरण हैं। अनेक पात्र ऐसे भी हैं जिनके द्वारा विदेशी शब्दों का प्रयोग किया जाना इतना उपयुक्त नहीं है, न वे ऐसा प्रायः करते ही हैं—जैसे कल्याणी, वकील साहब ('कल्याणी')। किन्तु इन्होंने 'एक्सक्लोज्ड' ''इन्वेस्टमेंट', 'इकोनॉमिक डिस्ट्रेस' 'इनसैनिटरी', 'अनहाईजीनिक' आदि शब्दों का उपयोग किया है जो आपत्तिजनक है। इनके स्थान पर हिन्दी के शब्द प्रयुक्त किए जा सकते थे।

वास्तव में हिन्दी में विदेशी शब्दों के व्यवहार का प्रश्न बड़ा ही विवादास्पद है। जहाँ एक ओर यथार्थता के वातावरण की सृष्टि के लिए इनका प्रयोग समर्थन के योग्य है, वहाँ दूसरी ओर हिन्दी के उन पाठकों की दृष्टि से, जिन्हें अंग्रेज़ी अथवा प्रयुक्त प्रान्तीय भाषा का तनिक भी बोध नहीं है, इन भाषाओं के शब्दों का हिन्दी में प्रयोग अनपेक्षित है। किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि जैनेन्द्र ने विदेशी भाषीय शब्दों के प्रयोग से औपन्यासिक वातावरण को सजीव बनाया है और कथोपकथन में यथार्थता की प्रतिष्ठा की है।

कथोपकथन उपन्यास-कला का एक मुख्य अंग है और जैनेन्द्र ने इस क्षेत्र में भी वस्तु-कौशल की भाँति ही सिद्धहस्तता का परिचय दिया है।

(ई) शैली

शैली संप्रेषणीय के उपस्थापन का रूप है। उपन्यासकार हैनरी जेम्स ने कहा है, "जिस प्रकार स्वर के बिना संगीत असम्पूर्ण है, उसी प्रकार शैली के बिना कोई भी सृष्टि असम्पूर्ण है।" प्रत्येक साहित्यकार के वक्तव्य की मौलिकता उसके व्यक्तित्व की मौलिकता है। बिल्कुल ऐसे ही शैली की मौलिकता भी व्यक्तित्व की मौलिकता की ओर एक संकेत है। महान् साहित्यकार अपनी स्वयं की चेतना से उद्भूत वक्तव्य का प्रस्तुतीकरण सदा उस शैली में करते हैं जो उनके साथ आत्मसात् है। यही कारण है कि प्रथम कोटि की रचनाओं में वस्तु और रूप अभिन्न होते हैं। जहाँ एक ओर शैली किसी भी रचना को केवल अपने ही सामर्थ्य पर महान् नहीं बना सकती, वहाँ दूसरी ओर इसका

१. 'सुखदा' पृ० १०१।

महत्त्व भी अनदेखनीय है। 'यद्यपि हम जिन भरे स्वच्छन्दों के रस में नहीं है पर दुख को भी रहस्य और उत्साह भावों की अपेक्षा रहती है।' जिस का प्रभाव जितना कथा की मौलिकता और रोचकता से हुआ है उतना ही शैली से।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की शैली के सम्बन्ध में दो शीर्षकों से विचार किया जा सकता है—

(अ) भाषा (आ) रूप-रचना के उपादान।

(अ) भाषा

(क) शब्द-शक्ति

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वस्तु-गुम्फन और घटनाओं के विवरण में जैनेन्द्र संकेत शैली से काम लेते हैं। वह घटनाओं को आद्यारम्भिक क्रम से और सम्पूर्ण विस्तृति व विवृति में प्रस्तुत नहीं करते, अपितु अनेक बार उनकी ओर इंगित मात्र करके रह जाते हैं। किन्तु उनकी यह व्यंजना शैली घटनागत ही है, साधारण वर्णन की भाषा में उन्होंने इस शक्ति का प्रयोग अधिक नहीं किया है। साधारण भाषा में तो लक्षणा शक्ति को ही अधिक छटा मिलती है। शब्दों की लक्षणा शक्ति का प्रयोग जैनेन्द्र बड़ी ही सरलता के साथ सुबोध भाषा में करते हैं। यथा—ये उद्धरण देखिये—

"आखिर सब लोग बिखर गये और मैं आज़ाद हो गया कि इस बड़ी दुनिया में जहाँ चाहे समाऊँ। आज़ादी दूर से जाने क्या थी, पास आई तो बड़ी वीरान चीज मालूम हुई।"[1]

"लेकिन यह कहना होगा कि मेरे भीतर बरफ़ की सिल का आसन डाले कोई राक्षस बैठा था। आज ज़िन्दगी के इस किनारे आकर कहता हूँ, राक्षस के सिवा और कुछ न था। कपड़े पहन-पहान कर मैं बाहर आया। पर बाहर चाँद ठिठुर आया था। सर्दी अपने ही मारे सिमटती लगती थी।"[2]

"पर जो हो, आज तो मन में ऐसा ही मालूम होता है कि वह सब तमाशा था। सत्त्व या सत्य उसमें न था। उससे जीवन पनपा नहीं, उजड़ता ही रहा। मेंह बरसा नहीं, वह विकारों की आँच में सूखता ही गया। इस भाँति इतने काल चक्कर की काटता रहा।"[3]

---

१. 'व्यतीत'—पृ० २०। २. 'व्यतीत—पृ० ११३।

३. 'सुखदा'—पृ० १४।

"जिन्दगी है, चलती जाती है। कौन किसके लिए थमता है! मरते हुए मर जाते हैं, लेकिन जिसको जीना है वे तो मुर्दों को लेकर वक्त से पहले मर नहीं सकते। गिरते के साथ कोई गिरता है? यह तो चक्कर है। गिरता गिरे, उठाने की सोचने में तुम लगे कि पिछड़े। इससे चले चलो।"[1]

"जीवन में एक फीकापन-सा, एक रीतापन-सा आ चला था। इस नए विषय (हरिप्रसन्न) के प्रवेश ने जैसे उसे ताजगी दी। कुछ लहरा आया, कुछ प्राप्य बना कि जिस पर दो बातें हो लें। चाहे उलझें, चाहे सुलझें, पर जिस को लेकर दोनों एक दूसरे के प्रति जियें।"[2]

वास्तव में लक्षणा-शक्ति जैनेन्द्र की भाषा-शैली का प्राण है। लक्षणा के प्रयोग के कारण ही उनकी भाषा में सजीवता और काव्यात्मक प्रवहमानता है। इसका अस्तित्व जैनेन्द्र की भाषा के प्रत्येक पृष्ठ पर दृश्यमान है। कथा-साहित्य ही नहीं अपितु दार्शनिक विचारात्मक लेखों की भाषा भी इसी विशेषता से मंडित है। (वस्तुतः जैनेन्द्र की कथा और लेखों की भाषा में कोई भेद है ही नहीं।)

(ख) गुण वैसे तो श्लेष, प्रसाद, समता आदि भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने शैली के दस गुण गिनाये हैं किन्तु प्रसाद, माधुर्य और ओज, तीन ही गुण प्रमुख माने गये हैं। यहाँ हम इन तीनों गुणों की कसौटी पर जैनेन्द्र के उपन्यासों की भाषा जाँचेंगे।

जहाँ प्रसिद्ध अर्थों की अभिव्यक्ति प्राप्य है, वहाँ प्रसाद गुण माना गया है।[3] जैनेन्द्र की भाषा में प्रसाद गुण सर्वत्र मिलता है। प्रस्तुत उपन्यासों में अर्थ की गूढ़ता अथवा क्लिष्टता सर्वथा अवर्तमान है। इसका एकमात्र कारण यह है कि जैनेन्द्र दुरूह शब्दों के व्यवहार से बचते हैं। उनकी शैली में शब्दाडम्बर का नितान्त अभाव है। यदि कहीं भाव को समझने में यत्किंचित् कठिनता आती भी है तो वह भाषा की दुर्बोधता के कारण नहीं, प्रत्युत विचारों की गम्भीरता और असाधारणता के कारण ही।

---

१. 'त्यागपत्र'—पृ० ४१। २. 'सुनीता'—पृ० ४०।

३. 'प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् सः प्रसादो' निगद्यते—भोजराज।
'प्रसादवत् प्रसिद्धार्थम्'...दण्डी।

महत्त्व भी सन्देहातीत है। 'यद्यपि हम विष भरे कनकघटों के पक्ष में नहीं हैं तथापि दूध को भी स्वच्छ और उज्ज्वल पात्रों की अपेक्षा रहती है।' चित्त का प्रसादन जितना कथा की मौलिकता और रोचकता से होता है उतना ही शैली से।

जैनेन्द्र के उपन्यासों की शैली के सम्बन्ध में दो शीर्षकों से विचार किया जा सकता है—

(अ) भाषा (आ) रूप-रचना के उपादान।

(अ) भाषा

(क) शब्द-शक्ति

यह पहले ही कहा जा चुका है कि वस्तु-गुम्फन और घटनाओं के विवरण में जैनेन्द्र संकेत शैली से काम लेते हैं। वह घटनाओं को याथातथ्यिक क्रम से और सम्पूर्ण विस्तृति व विवृति में प्रस्तुत नहीं करते, अपितु अनेक बार उनकी ओर इंगित मात्र करके रह जाते हैं। किन्तु उनकी यह व्यंजना शैली घटनागत ही है, साधारण वर्णन की भाषा में उन्होंने इस शक्ति का प्रयोग अधिक नहीं किया है। साधारण भाषा में तो लक्षणा शक्ति की ही अधिक छटा मिलती है। शब्दों की लक्षणा शक्ति का प्रयोग जैनेन्द्र बड़ी ही सरलता के साथ सुबोध भाषा में करते हैं। यथा—ये उद्धरण देखिये—

"आखिर सब लोग बिखर गये और मैं आजाद हो गया कि इस बड़ी दुनिया में जहाँ चाहे समाऊँ। आजादी दूर से जाने क्या थी, पास आई तो बड़ी वीरान चीज मालूम हुई।"[1]

"लेकिन यह कहना होगा कि मेरे भीतर बरफ की सिल का आसन डाले कोई राक्षस बैठा था। आज जिन्दगी के इस किनारे आकर कहता हूँ, राक्षस के सिवा और कुछ न था। कपड़े पहन-पहान कर मैं बाहर आया। पर बाहर चांद ठिठुर आया था। सर्दी अपने ही मारे सिमटती लगती थी।"[2]

"पर जो हो, आज तो मन में ऐसा ही मालूम होता है कि वह सब तमाशा था। सत्व या सत्य उसमें न था। उससे जीवन पनपा नहीं, उजड़ता ही गया। मैं सरसा नहीं, वह विचारों की आँच में झुलसता ही गया। इस भाँति इतने काल चक्कर को काटता रहा।"[3]

---

१. '[illegible]'—पृ० २०। २. 'व्यतीत'—पृ० ११३।
३. 'सुखदा'—पृ० १४।

"जिन्दगी है, चलती जाती है। कौन किसके लिए थमता है ! मरते हुए मर जाते हैं, लेकिन जिसको जीना है वे तो मुर्दों को लेकर वक्त से पहले मर नहीं सकते। गिरते के साथ कोई गिरता है ? यह तो चक्कर है। गिरता गिरे, उठाने की सोचने में तुम लगे कि पिछड़े। इससे चले चलो।"[1]

"जीवन में एक फीकापन-सा, एक रीतापन-सा आ चला था। इस नए विषय (हरिप्रसन्न) के प्रवेश ने जैसे उसे ताजगी दी। कुछ लहरा आया, कुछ प्राप्य बना कि जिस पर दो बातें हो लें। चाहे उलझें, चाहे सुलझें, पर जिस को लेकर दोनों एक दूसरे के प्रति जियें।"[2]

वास्तव में लक्षणा-शक्ति जैनेन्द्र की भाषा-शैली का प्राण है। लक्षणा के प्रयोग के कारण ही उनकी भाषा में सजीवता और काव्यात्मक प्रवहमानता है। इसका अस्तित्व जैनेन्द्र की भाषा के प्रत्येक पृष्ठ पर दृश्यमान है। कथा-साहित्य ही नहीं अपितु दार्शनिक विचारात्मक लेखों की भाषा भी इसी विशेषता से मंडित है। (वस्तुतः जैनेन्द्र की कथा और लेखों की भाषा में कोई भेद है ही नहीं।)

(ख) गुण वैसे तो श्लेष, प्रसाद, समता आदि भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने शैली के दस गुण गिनाये हैं किन्तु प्रसाद, माधुर्य और ओज, तीन ही गुण प्रमुख माने गये हैं। यहाँ हम इन तीनों गुणों की कसौटी पर जैनेन्द्र के उपन्यासों की भाषा जाँचेंगे।

जहाँ प्रसिद्ध अर्थों की अभिव्यक्ति प्राप्य है, वहाँ प्रसाद गुण माना गया है।[3] जैनेन्द्र की भाषा में प्रसाद गुण सर्वत्र मिलता है। प्रस्तुत उपन्यासों में अर्थ की गूढ़ता अथवा क्लिष्टता सर्वथा अवर्तमान है। इसका एकमात्र कारण यह है कि जैनेन्द्र दुरूह शब्दों के व्यवहार से बचते हैं। उनकी शैली में शब्दाडम्बर का नितान्त अभाव है। यदि कहीं भाव को समझने में यत्किंचित् कठिनता आती भी है तो वह भाषा की दुर्बोधता के कारण नहीं, प्रत्युत विचारों की गम्भीरता और असाधारणता के कारण ही।

---

१. 'त्यागपत्र'—पृ० ४१। २. 'सुनीता'—पृ० ४०।

३. 'प्रसिद्धार्थपदत्वं यत् सः प्रसादो' निगद्यते—भोजराज।
'प्रसादवत् प्रसिद्धार्थम्'.. दण्डी।

भावमय और रस-गर्भित शैली में माधुर्य गुण की अवस्थिति है।[1] जैनेन्द्र की भाषा पर्याप्त भाव-संकुल और रस-सिक्त है। उसमें चित्त को द्रवित करने की शक्ति प्रतिष्ठित है। उदाहरण के लिए एक अवतरण हम 'सुनीता' में से उद्धृत करते हैं—

"पति में क्या उसे प्राप्त नहीं है? पर उस मीरा को वह समझना चाहती है जो पति में सब श्रेय पा लेने के बखेड़े से छूट गई है। मीरा के लिए दो बूंद आँसू डालकर (? डालकर) वह पूछना चाहती है, 'अरी प्रेममयी, तूने वह कौन-सा प्रेम पाया जिसने तुझे कठिनता दी कि पति के हृदय की पीड़ा को तू बिना निपटे सहने। अरी, तू किस भयंकर प्रेम को दुनिया को दिए जा रही है, जो अपने पति के जी को तोड़ता है, और उसको टूटते देखकर भी वह प्रेम प्रेम ही रहता है। ओ मीरा, तू अपने मन की विथा मुझे पाने दे। मैं भी आज और विथा पाकर अपने ऊपर झेल लेना चाहती हूँ। वह विथा, जो अपने आनन्द को तौल के ही बराबर है, नहीं तो और सबसे भारी है।'"[2]

किन्तु जैनेन्द्र के उपन्यासों में माधुर्य गुण इस स्थल पर या उस स्थल पर ही नहीं, वह सर्वत्र बिखरा हुआ है, आद्यन्त व्याप्त है।

समासों की अतिशयता को ओज कहा गया है।[3] गाढ़ निबन्धन को भी ओज की सृष्टि का तत्त्व माना गया है।[4] हिन्दी भाषा की अपनी प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें समासों के लिए अधिक अवकाश नहीं है। संस्कृत-निष्ठता के आधिक्य से ही हिन्दी में समासों की अवतारणा हो सकती है। परन्तु जैनेन्द्र प्रायः संस्कृत शब्दों के आडम्बर से अपनी शैली की रक्षा किए रहते हैं। वाक्यों का गाढ़-बन्धत्व उपन्यासों के लिए अधिक वांछनीय नहीं होता। व्यास शैली ही कथा-साहित्य के लिए अधिक उपयुक्त रहती है। और चूँकि व्यास शैली जैनेन्द्र की भाषा का एक प्रधान गुण है, वाक्यों में संश्लिष्टता को अधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। यहाँ तक कि जहाँ दार्शनिक विचारों का प्रतिपादन किया गया है वहाँ भी भाषा में संश्लेषणात्मक शैली के दर्शन नहीं होते। 'सुनीता' में, निस्सन्देह संस्कृत-प्रधान भाषा का प्रयोग यत्र-तत्र मिलता है, किन्तु समासों के लिए वहाँ भी कोई स्थान नहीं है। साथ ही वाक्यों में संश्लिष्टता का आविर्भाव भी वहाँ नहीं हुआ है।

---

१. 'चित्तद्रवी भावमय आह्लादः माधुर्यमुच्यते'—विश्वनाथ। 'मधुरं रसवत्'—दण्डी।
'यत्र आनन्दमत्व मनो द्रवति तन्माधुर्यम्'—वाग्भट्ट।

२. 'सुनीता' पृ०—५४

३. 'ओजः समास भूयस्त्वम्'—भोजराज।

४. 'गाढ़बन्धत्वमोजः'—वामन।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में कभी-कभी ऐसा होता है कि उनके पात्रों के मन की पृष्ठभूमि में कहीं कुछ दार्शनिक मान्यताएँ अन्तर्निहित रहती हैं। उन्हीं का आधार लेकर वे जब कुछ सोचने या कहने लगते हैं तो पाठक को वह सहसा समझ में नहीं आता। यह रहस्यात्मकता जैनेन्द्र की शैली की एक विशेषता है। उदाहरणार्थ सुखदा के विचार देखिये—

(घ) वर्णन शैलियाँ

'बरामदे में पड़ी-पड़ी इस अनन्त दूर तक बिछे चित्र को देखती रहती हूँ। वह अनन्त, लेकिन अनन्त को क्या मैं जानती हूँ? क्षितिज हमारा अन्त है। जहाँ मेरी आँखों की सामर्थ्य समाप्त है, वहाँ सब कुछ भी मेरे लिए समाप्त है। पर समाप्ति क्या वहाँ है? अन्त वहाँ है? क्या वह अन्त कहीं भी है? नहीं है, और चित्र बनता जाता है। चित्रपटी तो सूनी हो रहती है और चित्रकार की लीला नये-नये रूप में प्रकट होती है। उसके इस चलचित्र जगत् में सभी कुछ के लिए स्थान है। सोचती हूँ कि मेरा भी कोई स्थान होगा। काली बूँद की भी कोई जगह होगी। वह बूँद अपने आप में तो काली ही है, फिर भी विधाता ने जाने इस निरन्तर बनते-बिगड़ते, फिर भी सदा वर्तमान, चित्र पर उस बूँद के कालेपन से क्या मतलब साधा है। वह मतलब मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता। होगा ·· वह कुछ तो होगा, पर आज तो मैं उस कालेपन से बेहद अधिक त्रस्त हूँ।'[1]

अथवा, जितेन के कार्य-व्यापार के सम्बन्ध में उपन्यासकार वर्णन करता है—

'देखते-देखते उसमें एक घोरता का उदय हुआ है। देखते ही-देखते गाड़ी के स्टीयरिंग ह्वील पर वह आ बैठा और स्त्री के हाथों की ओर से पीछे से विघ्न आया, इसलिए आग्रहपूर्वक चला भी बैठा। मानो वह कर्त्ता न था, क्रिया का कर्म था। क्रिया उसको कर रही थी और स्वयं में वह न था। कहते हैं, आदमी में भाव होते हैं। कभी जी होता है मान लें कि आदमी होता ही नहीं। देवता होते हैं, राक्षस होते हैं। वे इतने होते हैं कि मानो सब शरीरों में वही होते हैं। आदमी शरीर-धारी होकर कभी इनके वश होता है, कभी उनके। शरीर तो माध्यम है, कर्त्ता भाव है, दुर्भाव राक्षस, सद्भाव देवता।'[2]

जिस समय जैनेन्द्र पात्रों की मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का वर्णन करते हैं, तो उन्हें विविध-विविध भावों के चित्रण का आश्रय लेना पड़ता है। उदाहरण—

---

१. 'सुखदा' पृ० १०-११।
२. 'विवर्त'—पृ० १६३।

"सुनीता पहले जैसी प्रशान्त, प्रथवा प्रतिशयपूर्वक शान्त हो पड़ने लगी।"

"उसे माता है ऐसा क्रोध, ऐसी स्पर्धा और ऐसा सम्मोह और ऐसी याचकता कि नहीं जानता कि इस लेटी हुई नारी को दोनों मुट्ठियों में जोर से पकड़ कर उसे मसल कर मल डालना चाहता है, कि उसकी सारी जान लहू की बूंद-बूंद करके उसमें से चू जाय, या कि यह चाहता है कि आँसू बन कर वही स्वयं समग्र का समग्र अपने अणु-परमाणु तक इसके चरणों में बेसुध होकर, आँसू बन कर बह उठे कि कभी थके ही नहीं—सदा उन चरणों को धोता हुआ बहता ही रहे।"[३]

"लेकिन जैसे मोहिनी दूर थी, वह व्यक्ति दूर था, और बीच में ऐसा अनुल्लंघनीय शून्य था, जो सब कुछ उमड़ता हुआ छोड़ जाता था, और जिसमें से कुछ भी हाथ न आता था।"[४]

"रहने का यह भी तरीका होता है, वह जानती न थी, जहाँ चीजों को लिया नहीं जाता है, अपनाया नहीं जाता है, जैसे स्वयं में रहने दिया जाता है। जहाँ व्यक्ति अपने से अपने को ऋण करके रहता है, ऐसे कि मानो वह है ही नहीं, सिर्फ शून्य है।"[५]

अद्भुत वर्णनातीत मनःस्थितियों को शब्दों में बाँधने का यह प्रयास विलक्षण है।

जैनेन्द्र के अनेक पात्र चिन्तनशील है। वे जब-तब विविध विषयों पर गम्भीरता से सोचने लगते हैं। चिन्तन-भारान्वित शैली के कुछ नमूने देखिए—

"पूछता हूँ, मानव के जीवन की गति क्या अभी है ? वह अप्रतिरोध्य है, पर अभी है, यह तो मैं नहीं मानूँगा। मानव चलता-चला जाता है और बूंद बूंद दर्द इकट्ठा होकर उसके भीतर भरता जाता है। वही सार है। वही जमा हुआ दर्द मानव की मानस-मणि है। उसके प्रकाश में मानव का गतिपथ उज्ज्वल होगा। नहीं तो चारों ओर गहन वन है, किसी ओर मार्ग सूझता नहीं है, और मानव अपनी क्षुधा-तृषा, राग-द्वेष, मान-मोह में भटकता फिरता है। यहाँ जाता है, वहाँ जाता है। पर असल में वह कहीं भी नहीं जाता है, एक जगह पर अपने ही कूए में बँधा हुआ

---

३. 'सुनीता'—पृ० १४।　　४. 'सुनीता'—पृ० १३६।

५. 'विवर्त'—पृ० ८६।　　६. 'विवर्त'—पृ० २०८।

कोल्हू के बैल की तरह चक्कर मारता रहता है।"[1]

"दुनिया में कई दुनियाँ हैं और आदमी में कई आदमी। असल में चेतना में पर्त पर पर्त हैं। इसलिए जो है वह निश्चित नहीं है. वह एक रूप में नहीं है। क्या है, सो कहा नहीं जा सकता। जो है अनिर्वचनीय है। है तो एक, पर दीखता है, प्रतीत होता है इससे है भिन्न। प्रतीति होने से ही जगत है। प्रतीति है माया, इससे जगत माया है।' माया-ममता होने की शर्त है। यही होने का आनन्द, यही उसका छल। अपनी प्रतीतियों में सब वर्तन करते हैं। इससे सदा नए-नए प्रपंच पड़ते हैं। शायद होना और होते रहना छलना ही है।"[2]

जैनेन्द्र की भाषा में लक्षणा का बहुल उपयोग है, इसलिए सौन्दर्य और काव्यात्मकता उनकी शैली में प्रायः मिल जाती है।

देखिए निम्न उद्धरणों में पर्याप्त सुरुचि और सौन्दर्य-दृष्टि झलकती है—

" सामने सिर्फ फैलावट है, सिर्फ़ फैलावट। न घर है, न दुकान है, न मनुष्य है, न समाज है। बस केवल रिक्त सामने है, जो दीखता है इससे दृश्य बन उठा है। वही चित्र बन फैला है। बीच में बाधा नहीं, व्यवधान नहीं। कुछ ही दूर पर धरती ढल गई है और ढलती हुई जाने कहाँ प्रवाह में पहुँच गई है। पार मैदान बिछा है, मानो प्रतीक्षा में हो। वहाँ कहीं भूरी-सी मकानों की बिंदियाँ भी दीखती हैं, कहीं हरियाली इकट्ठी हो गई है, कहीं रंग मट-मैला है। दूर दो-एक पतली सफेद लकीरें भी दीखती हैं, जो नदियों के निशान हैं। पर दूर होते-होते यह सब दृश्य मानो एक धुंधली रेखा में सिमिट कर समाप्त हो जाता है। वही हमारा क्षितिज है।"[3] अथवा—

"वह धागा (जीवन का धागा) किस प्रकार किन रेशों को गूँथ कर बना है और कहाँ कौन बैठा हुआ उस अनन्त सूत्र को इस विश्व-चक्र पर ऐंठ कर कातता चला जा रहा है। सच तो यह है कि इस जीवन के सम्बन्ध में हमारा समस्त मन्तव्य समुद्र के तट पर कौड़ियों से खेलने वाले बालकों के निर्णय की भाँति होगा। फिर भी हमें बालकों का मस्तक मिल गया है और हृदय भी मिल गया है। वे दोनों निष्क्रिय होकर तो रहते नहीं। इसी से जो जानने के लिए नहीं है, उसे जानने की

१. "त्यागपत्र" पृ० ३९।
२. "विवर्त"—पृ० १०६-७।
३. "सुनीता"—पृ० ७०।

में हृदय नहीं है, हिसाब है। यह संस्कृति ही नहीं है। यह तो बड़ा-बड़ी का जुम
है। एक घुड़दौड़ है। संस्कृति उसे कौन कहता है, जो चमक है, वह ज्वरावेश क
है, स्वास्थ्य की नहीं। सन्तोष वहाँ नहीं है। भागाभागी है, मारामारी। इसमें
शक है कि उस भाग में गति है। वह भागना चक्कर में भागना है। उसकी जड़
मनोश्वरता है। आत्मा को नहीं जानकर जाने वे क्या जानते हैं। ये लोग ईमा
न होने में ईमान रख सकते हैं। इस सभ्यता में स्त्रियाँ मर्द को चाहती हैं, म
अपने को चाहते हैं, और दोनों अपने लिये दोनों का इस्तेमाल करना चाहते हैं
दोनों इस तरह एक दूसरे को छलने में अपनी कामयाबी गिनते हैं। इससे मनुष्यत
को तरक्की मिलेगी ? खाक मिलेगी। इससे ध्वंस पास आयेगा। यह तो छीन झप
और खाँव-खाँव है। इसमें उन्नति कहाँ रखी है। मौत, हाँ, वहाँ जरूर बैठी है।"[1]

वास्तव में, बोध-गम्यता, स्वाभाविकता, व प्रवहमानता जैनेन्द्र की भाषा-शैल
की विशेषतायें हैं।

(ङ) सूक्तियाँ

जैनेन्द्र ने चिन्तन करते हुए विश्व पर, इसकी क्रिया-प्रतिक्रियाओं पर, मान
के मन के रहस्यों पर, जहाँ अवच्छेद पर अवच्छेद लि
है, वहाँ उन्होंने दो-एक वाक्यों में भी उसके सार की य
तत्र प्रतिष्ठा की है। इन अनुभूति-मूलक अभिकथनों
महत्व जैनेन्द्र के साहित्य में उतना ही है, जितना कि उनका प्रेमचन्द्र के साहित्य
यद्यपि प्रस्तुत उपन्यासों में इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। ये सूक्तियाँ, प्रेमचन्द
विपरीत, मुख्यतः तात्त्विक अधिक हैं, उनका जीवन के व्यावहारिक पक्ष से सम्ब
इतना पास का नहीं है। इन सूक्तियों ने जैनेन्द्र की भाषा शैली को अपरिमित सौन्द
और गौरव प्रदान किया है।

कुछ सूक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं। इनमें जीवन के चिरन्तन प्रश
के समाधान की झलक मिलती है।

"मृत्यु के बाद भी अस्ति है। बाद भी गति है। जीवन निरन्तर परिभ्रम
है। कर्मफल-योग की परम्परा में आदि नहीं, अन्त नहीं, मध्य ही है।"

"अच्छा-बुरा होने वाले में नहीं, देखने वाले की आँख में होता है।"

"विवाह में जो दिया जाता है, वही आता है, पराधीनता किसी अ
नहीं आती।"

---

१. "कल्याणी"—पृ० ६१।

"सिर्फ़ अनकहा रहने से तो कुछ असत्य नहीं हो जाता।"

"अपना दोष खुद कौन पूरा जान पाता है। दोष सदा दूसरे में और दूसरे को दीखता है।"

"समग्र मनुष्य को हमें लेना होगा। नैतिकता आधे को लेती है।"

"शायद राह एक नहीं है और एक दूसरे का व्यर्थ करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है।"

"भवितव्य के साथ जो मतव्य एक रस है, वह ही है, शेष क्लेश है।"

"जितना और जो दीखने में आता है, सत्य उतने में ही समाप्त नहीं है।"

"जो अपने को अपने मंतव्य को, दूसरे से और उसके मंतव्य से अधिक मानता है, वह उतना ही अपने और अपनी मान्यताओं को मन्द और सकरी बनाता है।"

"शब्द अधिकतर झूठ हैं। मन की तकलीफ़ को बढ़ावें और उस तकलीफ़ से ही जब वे बनें तो सच है, अन्यथा मिथ्या है।"

"हमारी धारणाएँ हमारी बन्द कुठरियाँ हैं। उनमें हमारा ठिकाना है। वे हमें गर्म रखती और अंधेरे में रखती हैं। हमारा ज्ञान हमारा बन्धन भी है।"

"सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता, वह आत्म-ज्ञान आत्म-व्यथा में से मिल जाता है।"

"(फ़र्ज़) अपनी तरफ पहले है और वह सहने का है। दूसरे की तरफ़ बाद में है, लेकिन वह देने का है।"

"धर्म-शास्त्र कुछ हो, व्यवहार-शास्त्र स्वयं अपने नियम बना लेता है। यों भी नियम पोथी के कहाँ, प्रकृति के चलते हैं।"

"कर्तव्य में बन्धन है, प्रेम मुक्त है। हमसे जहाँ उचित रहता है, वहाँ ही वह नहीं रहता।"

"बन्धन कर्म का कहो, व्यवस्था का कहो, नियति का कहो, वह है और अमोघ है।"

"प्रेम पर कोई दायित्व नहीं होता, उसे कुछ करने की आवश्यकता नहीं होती।"

(च) शब्द-प्रयोग

प्रस्तुत उपन्यासों में जैनेन्द्र की भाषा को पढ़ते समय पाठक को शब्द-प्रयोग के विषय में एक प्रकार की असाधारणता का अनुभव होता है। यह असाधारणता की अनुभूति इसलिए होती है कि जैनेन्द्र ने चिर-परिचित शब्दों को नये संदर्भ में प्रयुक्त करके उनके द्वारा नई अर्थ-व्यंजना देने का प्रयत्न किया है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तथा अन्तःस्थितियों को लिपि-बद्ध करने के आयास में उन्होंने कुछ शब्दों का रूप परिवर्तन भी कर दिया है।

"बद्धपरिमाण, एक ही ढंग के रहने से नई समस्याएँ कहाँ से उठेंगी ?" नपे-तुले, और सदा नवीनता से हीन रहने के ढंग के लिए 'बद्ध-परिमाण' शब्द का प्रयोग किया गया है।[1]

"अस्वीकरण और अंगीकरण, दोनों की क्षमता......।" अस्वीकृति को लेखक ने पर्याप्त नहीं समझा।[2]

"वहाँ मनुष्यों की असंख्यता के अतिरिक्त और कुछ.......।" अलग वाक्य में यह कहने के बदले कि—वहाँ असंख्य मनुष्य थे और उनके अतिरिक्त.... , लेखक ने असंख्य में 'ता' लगाकर भाववाचक संज्ञा का निर्माण कर लिया है जो हिन्दी में प्रचलित नहीं है।[3]

सृजनशील और कल्पनाशील स्वभाव के लिए लेखक ने 'कल्पक स्वभाव' का प्रयोग किया है।[4] 'कल्प' धातु से कल्पक बनाने की सूझ लेखक की अपनी है। (वैसे 'कल्पक' का अर्थ संस्कृत में 'नाई' होता है।)

उद्यत से 'उद्यतता' और बेकार के लिए 'निर्धन्धा' शब्द भी लेखक के अपने हैं।[5]

"और यदि कोई पैसे वाला बनता है, तो मेरा ख्याल है, इस कारण उसे बल्कि निम्न समझना चाहिए।"[6] यहाँ 'उल्टा' के अर्थ में 'बल्कि' का प्रयोग किया गया है जो बिल्कुल अशक्त पर्याय नहीं है।

---

१. 'सुनीता'—पृ० ८। २. 'सुनीता'—पृ० ८।
३. 'सुनीता—पृ० १२। ४. 'सुनीता'—पृ० १३।
५. 'सुनीता'—पृ० १४-१५। ६. 'सुनीता'—पृ० १७।

राष्ट्रीय कार्यकर्ता के लिए—'राष्ट्रकर्मी', चुप्पी के लिए 'वाक्‌बद्धता', और प्रेम के प्रभाव के लिए 'अप्रेम', जैनेन्द्र के ही प्रयोग हैं।

मात्र फैक्ट' के लिए 'निरी-निरी घटना' का प्रयोग किया है। अर्थ अस्पष्ट न रह जाये, इसलिए लेखक ने स्वयं 'मात्र फ़ैक्ट' आगे दे दिया है।[1]

'स्थिर' के अपभ्रष्ट 'थिर' से 'थिरता', भी लेखक की उद्भावना है।

"अपने सम्बन्ध में उन्हें समाधान नहीं था।"[2] यहां कुछ-कुछ सन्तुष्टि के अर्थ में 'समाधान' शब्द का प्रयोग है।

"पर बीता व्यतीत हुआ।"[3] अतीत के लिए 'व्यतीत' शब्द प्रयुक्त है। अतिरिक्त उपसर्ग का व्यवहार जैनेन्द्र की भाषा की विशेषता है। 'व्यतिव्यस्त' ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण है।

हिन्दी के उपसर्ग 'अन' का प्रयोग भी जैनेन्द्र की भाषा में खूब ही मिलता है। 'अनमिल', 'अनदिखनी', 'अनबूझे', 'अनकहनी', 'अनबोली' ऐसे साधारण व्यवहार हैं।

"यों एक शहर में होकर भी परस्पर दुर्लभता थी।"[4] आपस में मिलने के अवसरों की न्यूनता के लिए 'दुर्लभता' का प्रयोग नवीन है।

"मिसेज असरानी के प्रति उसकी सप्रश्नता मुझे समझ न आई।"[5] 'जिज्ञासा' के भाव के लिए 'प्रश्न' से 'सप्रश्नता' का निर्माण जैनेन्द्र का अपना प्रयोग है।

"न कुछ आयु में मैं ने बहुत कुछ पाया है।"[6] 'इन नाट मच एज' के लिए 'न कुछ आयु' कितने उपयुक्त शब्द हैं।

"मेरी अपेक्षा तुम्हें तनिक भी इधर से उधर करने की नहीं है।"[7] यहां 'अपेक्षा' का अर्थ 'आवश्यकता' से नहीं है। यहां तो यह 'मंशा', 'इरादा' आदि के अर्थ को व्यंजित कर रहा है।

---

१. 'सुनीता'—पृ० १५६।
२. 'कल्याणी'—पृ० १२।
३. 'कल्याणी'—पृ० २।
४. 'कल्याणी'—पृ० ५१।
५. 'कल्याणी'—पृ० ८१।
६. 'सुखदा'—पृ० १३।
७. 'सुखदा'—पृ० ४२।

"लेकिन मैं देख सकी कि प्रसन्नता नियम की है।"[1] इस प्रकरण में नियम का अर्थ 'उपचार' से लिया गया है। 'नियम' को इस अर्थच्छाया की देन जैनेन्द्र की मौलिक सूझ है।

"यह जो जन साधारण है, जिसकी गिनती नहीं है, जो एक-सा है, और इकट्ठा है, रीढ़ वह है।"[2] 'एक-सा' और 'इकट्ठा' जैसे साधारण शब्द लेखक की समर्थ भाषा में कितने सूक्ष्म भावों को प्रकट करने में सक्षम हैं।

"अब तक वह सावधान, कृतसंकल्प खड़े हो आए थे।"[3] शायद 'dignified', 'manlike' का भाव दे रहा है 'सावधान' शब्द।

"वह टक भर कर मुझे देखते तो····।" 'सुखदा' पृ० ११०

"अन्त में मैं अपने आप को उपहास्य लग आई।" पृ० ११०

"व्यंग का उसमें रंच न था।" पृ० ११२।

"अनहुआ उसे नहीं किया जा सकता।" पृ० ११३।

"कहीं तो बेहद उघड़ी भाषा थी।" पृ० ११८।

"इतने उदार, इतने निश्छल, इतने प्रेमल।"

गौर से देखने के लिए 'टक भर', अनहोने से 'अनहुआ', अश्लील के लिए 'उघड़ी' और प्रेमी स्वभाव के व्यक्ति के लिए 'प्रेमल' शब्द प्रगल्भ शब्द हैं। साधारण 'रंचमात्र' के स्थान पर केवल 'रंच' और उपहासास्पद के स्थान पर 'उपहास्य' से काम चला लिया गया है।

"मचलती चाहे जितना भी, पर बात ऊपर उनकी ही रहती और ऐसे अपने में धन्यवाद प्राप्त करती।"[4] कृतार्थ होने के अर्थ में 'धन्यवाद प्राप्त करने' का प्रयोग हुआ है।

परस्पर से 'परस्परता' और साम्यवाद की व्याख्या करते हुए उसके लिए 'समवाद' शब्द का निर्माण लेखक का अपना है।

---

१. 'सुखदा'—पृ० ५५। २. 'सुखदा'—पृ० १०१।
३. 'सुखदा'—पृ० ११ ४. 'सुखदा' पृ० ११६।

"लेकिन काश कि तुम्हारे मन में प्रेम हो सकता जो फाँक न रहने देता।"[१] भेद-भाव न रहना—इस भाव को प्रकट करने के लिए कितनी समर्थ भाषा का प्रयोग है।

"एक दूसरे को व्यर्थ करना हमारे लिए आवश्यक नहीं है।"[२] 'बेकार' के अर्थ में प्रयुक्त न करके, यहाँ 'व्यर्थ' शब्द अपने मौलिक भाव (अर्थहीन) में प्रयुक्त किया गया है।

"उसने अपने को छोड़ दिया, जैसे जो अभाग्य हो, हो।"[३] मुहावरा है, 'जो भाग्य हो, हो'। किन्तु दुर्भाग्य के लिए 'अभाग्य' का प्रयोग किया गया है।

"इस करतब में आत्यन्तिक अवधान की आवश्यकता थी"[४] यहाँ सावधान का 'स' विलुप्त कर दिया गया है। (यह नोट करने की बात है कि अत्यन्त के लिए यहाँ 'आत्यन्तिक' का प्रयोग ग़लत है।)

"उसके भाग में धन्यता कहाँ है?"[५] 'धन्य' विशेषण से भाववाचक संज्ञा 'धन्यता' शब्द निर्मित किया गया है।

"मोहिनी सदा घर में और कर्तव्य में रहती और कम बोलती"।

"मेज पर चाय और बीबी जी याद करते हैं।"

"मेरी जैसी अब नहीं हो तुम, बल्कि इज्जतदार हो, वजनदार हो।"

भाषा के ये कितने विचित्र प्रयोग हैं।

"........यही अनुभव करूँ मैं कि मैं व्यतीत हूँ।"[६] दिन के लिए समय लिए तो 'व्यतीत' का चलन हिन्दी में है किन्तु एक व्यक्ति के लिए इसका प्रयो लाक्षणिक होने के कारण शब्द को एक नई अर्थच्छाया दे रहा है।

"वह रुतबा गिनती वालों के लिए है अनगिनत के लिये नहीं है।"[७] यह क्रमशः विशिष्ट व्यक्तियों और जनसाधारण से तात्पर्य है।

सामंजस्य के स्थान पर 'समंजसता', (volunteered service) के लिए 'स्वयंसेवा', मन भर की तरह 'क्षसभर', 'निपट मद्दं' में शुद्ध, अमिश्रित, कोरा आदि के अर्थ में 'निपट' शब्द जैनेन्द्र के अपने प्रयोग हैं।

बारीक व अन्तर्दात मनोदशाओं को लेखक ने स्थल-स्थल पर किस विचित्र ढंग से चित्रित और प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, इसके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

"ऐसे मौकों पर सुनीता अनायास ऊँची हो पड़ती है।"[1]

"सुनीता पहले जैसी अज्ञात अथवा अतिशयपूर्वक ज्ञात हो पड़ने लगी।"[2]

"वह फिर कठिन हो आई।"[3]

"हरिप्रसन्न स्टडी रूम में अकेला रह कर कुछ अँधेरा पड़ गया।"[4]

"और दोनों परस्पर में मानो कुछ सतर्क, ससभ्रम, अधिक प्रस्तुत और अधिक प्राप्त होना चाहने लगे।"[5]

"कुछ क्षण इस प्रकार असंगत भाव से मैं बैठी रह गई।"[6]

"उस समय मेरे स्वामी, जड़ित और चकित, मुझे अपदार्थ लग आए।"[7]

"स्वामी ने स्तम्भ चकित भाव से मुझे देखा।"[8]

" 'होगा।' कह कर सचेष्ट भाव से वहाँ से हट कर जिस-तिस काम में व्यस्त हो गये।"[9]

"चेहरा जैसे मनुकूल और अँधेरा हो आया।"[10]

"देखते-देखते उसमें एक घोरता का उदय हुआ।"[11]

---

१. 'सुखदा'—पृ० ११२।
२. 'सुखदा'—पृ० १२७।
३. 'सुनीता'—पृ० २७।
४. 'सुनीता'—पृ० २८।
५. 'सुनीता'—पृ० ४०।
६. 'सुनीता'—पृ० ४५।
७. 'सुनीता'—पृ० ६३।
८. 'सुखदा'—पृ० ११२।
६. 'सुखदा'—पृ० ११७।
१०. 'विवर्त'—पृ० १२।
११. 'विवर्त'—पृ० १६१।

"मालिक को और उनकी पसंद को संक्षिप्त भाव से किनारे कर के वह बोली।"[1]

"पर मेरी बात का अन्त होते-होते उसका मुँह टूट आया। जैसे चेहरे पर उसका बस न रहा, वह अजब तरह से तुड़-मुड़ आया।"[2]

"मैं एक कोने में और अपने में रहना चाहता था, साधारण और अन-पहचान।"[3]

"कपिला को कभी शांत और समाप्त नहीं देखा।"[4]

किन्तु शब्द-योजना में यह वैचित्र्य जैनेन्द्र की ओर से सचेष्ट नहीं है। "शब्द अधिकतर झूठ हैं। मन की तकलीफ़ को जब वे बढ़ायें और उस तकलीफ़ से जब वे बनें, तब तो सच है, अन्यथा मिथ्या हैं। भाषा सब पहरावन है और शब्द कोई भी यथार्थता को नहीं पकड़ सकता।"[5] मन की अनुभूत व्यथा में से भाव जैसी भाषा में निकल आते हैं, वैसी ही भाषा में उनके उपस्थापन से जैनेन्द्र अपने कर्तव्य की इति समझते हैं। यदि भावों के सफल प्रकाशन के लिए परिचित शब्दों को नई अर्थ-व्यंजना से युक्त भी करना पड़े, उनका रूप परिवर्तित भी करना पड़े अथवा नए शब्द भी गढ़ने पड़ें, तो भी जैनेन्द्र को कोई संकोच नहीं है।

भाषा के नए प्रयोगों के विषय में वह कहते हैं, "आलोचक को एक नई कृति में भाषा के प्रयोग कहीं कुछ अनहोने से लगेंगे ही। ऐसा न होना विस्मय का विषय हो सकता है, होना तो स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है। उसकी यह अद्वितीयता कुचल कर मिटाने से भी बाहर से और भीतर से नहीं मिट सकती। राह यही है कि प्रसन्न भाव से उस अद्वितीयता के साथ समझौता कर लिया जाय।" किन्तु भाषा के प्रयोग यदि चौंकाने के उद्देश से किये जायें तो जैनेन्द्र मानते हैं कि इसमें लेखक का अहित ही है। "चौंका कर वह किसी को अपना मित्र नहीं बना सकता। फिर भी यदि चौंका देता है तो उसे क्षमाप्रार्थी भी समझिए,—इसे असफलता का परिणाम मान लेना चाहिए। अगर अपनी ओर से कहूँ कि वह आग्रह का परिणाम नहीं है, तो पाठक को इसे असत्य मानने का आग्रह नहीं करना चाहिए।"[6]

---

१. 'व्यतीत'—पृ० १०।
२. 'व्यतीत'—पृ० ११।
३. 'व्यतीत'—पृ० ११४।
४. 'व्यतीत'—पृ० १५०।
५. 'कल्याणी'—पृ० ७६-८०।
६. लेख—'आलोचक के प्रति' पुस्तक—'साहित्य का श्रेय और प्रेय' पृ० १०६।

वस्तुतः जैनेन्द्र के प्रयोग उनकी अपनी 'अद्वितीयता' के कारण ही हैं। प्रयोग करके भाषा में लचक और शक्ति लाने के लिए वह स्वतन्त्र हैं, इस दृष्टि से उनके प्रयोगों का हिन्दी में स्वागत किया जा सकता है। किन्तु उनमें टिकने के लिए और अपनाए जाने के लिए कितनी शक्ति है, यह भविष्य ही बता सकता है।

(छ) हिन्दीतर भाषीय शब्दों का प्रयोग

उर्दू, अंग्रेजी, बँगला आदि हिन्दीतर भाषाओं के शब्दों, वाक्यांशों व वाक्यों का प्रयोग जैनेन्द्र निस्संकोचतः करते हैं। मुख्यतः इनका प्रयोग कथोपकथन में हुआ है और उसका उद्देश्य स्वाभाविक वातावरण की सृष्टि और पात्रों को सजीव बनाने का रहा है। जैनेन्द्र ने प्रत्येक उपन्यास में अंग्रेजी के शब्दों को न्यूनाधिक रूप से व्यवहृत किया है। अंग्रेजी के उन शब्दों के सम्बन्ध में जिनका प्रयोग कथोपकथन में, और हिन्दी की अशक्ति के कारण किया गया है, हम कुछ आपत्ति न भी उठायें, तो भी इन उपन्यासों में बहुत-से अंग्रेजी के ऐसे शब्द मिल जायेंगे जो लेखक की ओर से किसी भी विवशता से बाध्य न होकर प्रयुक्त किये गये हैं। स्कीम, पोस्ट, म्यूजियम, सोसायटी, कप, लिप, शर्ट, थोक हैड, प्रीमियर, जर्नलिस्ट, टयूटर, म्यूजिक, सिमटम, रैपर, कवर, माईल पोस्ट, ड्राइव, यूरोपियन, मैटर, एडिट, मेकप, प्लेन, ट्रेन, कजिन, आदि शब्द इसी प्रकार के हैं जो आपत्ति-जनक हैं, और विशेषकर जैनेन्द्र के साहित्य में क्योंकि जैनेन्द्र मन की सूक्ष्म गतियों को हिन्दी में अभिव्यक्त करने में बहुत कुछ सफल हैं। ये अंग्रेजी के शब्द अनिवार्य नहीं हैं, इसलिए इनका बहिष्कार अपेक्षित है। कथोपकथनगत अंग्रेजी के शब्दों के विषय में पहले विवेचन किया जा चुका है।

नाराज, इज्जत, तोफ़ा, ख्याल, आदि उर्दू (=अरबी-फ़ारसी) के वे शब्द जो हिन्दी में खूब हिल-मिल गये हैं, हिन्दी के सम्बन्ध में किसी संकुचित दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति को ही अवांछित हो सकते हैं। वास्तव में हिन्दी के सर्वतोमुखी विकास व प्रकर्ष के लिए ऐसे शब्द अनावश्यक नहीं हैं। किन्तु तोहमत, ऐशगाह, इफ़रात, जेर, सरकश, मामूल, सदरमुकाम, उजलत, तफ़तीश, ताकीद-तंबीह, खातून, अाजिज, सरनाम, मुअत्तल, निजाम, तस्दीक आदि ठेठ उर्दू के शब्द, लेखक के हिन्दी-तर भाषा-ज्ञान और भाषा-प्रियता का परिचय तो देते हैं, पर साधारण हिन्दी-पाठक के लिए इनमें प्रत्येक के लिए शब्दकोष की आवश्यकता पड़ जाती है। ठेठ विभाषीय शब्दों के प्रयोग का हिन्दी में किसी भी प्रकार से समर्थन नहीं किया जा सकता।

कथोपकथन में प्रयुक्त बंगला के वाक्यांशों व वाक्यों के सम्बन्ध में हम इतना ही कहेंगे कि उनका कोष्ठकों में हिन्दी-अर्थ दे दिया जाये।

(अ) विशिष्ट प्रयोग

'हो आए' का बाहुल्य जैनेन्द्र की भाषा में विशिष्ट प्रयोग है। यथा—चकित हो आए, खिन्न हो आया, संकोच हो आया, असमंजस हो आया, निश्चिन्त हो आए, मुझे कष्ट हो आया, उदय हो आए, मुस्करा आई, हँस आए, घबरा आया, धीमे हो आए, आंख में भीग आए, इत्यादि-इत्यादि। 'सुखदा' में इस प्रकार की वाक्य-रचना सर्वाधिक मिलती है। यह प्रयोग सर्वथा निरर्थक और वैयक्तिक रुझान ही नहीं है। यह मन के भावों के उदित होने की प्रक्रिया की सहजता और क्रमिकता पर विशेष बल देता है। उदाहरणत:—"चुपचाप पत्र खोला और पढ़ा। पढ़कर मैं संकोच में हो आई।" यहाँ साधारण वाक्य-रचना होती, 'पढ़ कर मैं संकुचित हो गई'। परन्तु मूल वाक्य-रचना में सुखदा के संकुचित हो जाने की प्रक्रिया में जो नैसर्गिकता और जो क्रमिकता की ध्वनि प्राप्त होती है, वह साधारण व्याकरण-शुद्ध वाक्य-रचना में अलभ्य है।

किन्तु अर्थ-विशेष की यह व्यंजना प्रत्येक 'हो आए' में नहीं मिलती और तब लगता है कि यह लेखनी की आदत ही है। इस प्रकार के प्रयोग का तिरस्कार निम्नलिखित चार कारणों से किया जा सकता है—(१) व्याकरण की दृष्टि से यह अशुद्ध है, (२) कथित भाषा में भी इसका व्यवहार नहीं है, (३) बहुत प्रयोग से यह अप्रिय लगता है, और (४) अधिकतर प्रयोग सार्थक भी नहीं है।

(क) दोष

दोष जैनेन्द्र की भाषा में अपने गुणों से कम नहीं हैं। अपने विषय में वह स्वयं कहते हैं, "जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं अपने लिखने में स्वैराचार के दोष से मुक्त नहीं हूँ। जो शब्द आया मैंने स्वीकार किया है और वाक्य जैसा बना बनने दिया है।··· लेकिन वह भाषा दरिद्र है जो जिंदगी का साथ देने के बजाय उस पर सवारी कसती है। जो हो, अपने अज्ञान को अपने से उतार कर मैं अलग नहीं रख सका हूँ। सदा उसे साथ रख कर मुझे चलना पड़ा है। इसमें कला बनी है कि बिगड़ी है, मुझे ज्ञात नहीं।"[1]

---

१. लेख—'मैं और मेरी कला', पुस्तक—'साहित्य का श्रेय और प्रेय' पृ०—३६६।

लिंग दोष—उदाहरण:

"जगह-जगह टक्कर खाना पड़ता है।" (परख)

"कुछ न कुछ गड़बड़ हो ही जाता है।" (परख)

"समाज टूटी कि फिर हम किस के भीतर बनेंगे।" (त्यागपत्र)

"पुरी साहब के ओर की तैयारी भी चोट की थी।" (व्यतीत)

अन्य वाक्यगत दोष—उदाहरण—

"यह लिखने के लिए मानों अपने को, मन ही मन धन्यवाद देना चाहते हैं।" (परख) "इसे लिखने के लिए" होना चाहिए।

'प्रतिष्ठा के ऐवरेस्ट पर' अच्छा प्रयोग नहीं है। 'ऐवरेस्ट' शब्द अनुचित है। (परख, पृ० १२)

"दरख्त की छत पर" (परख) 'दरख्त की छत' मुहावरा नहीं है, 'दरख्त की चोटी' कहा जाता है।

"शुरू बार ही" (परख) अच्छा प्रयोग नहीं है। 'पहली बार ही' होना चाहिए।

"मैं कहे रखती हूँ।" (परख)—शुद्ध—"मैं कहे देती हूँ।"

कट्टो के लिए 'बन्दर की आत्मा' ग्रहण करने की बात परख में की गई है। 'आत्मा' शब्द का प्रकृति वा स्वभाव के लिए व्यवहार अशुद्ध है।

"आज के कार्य आदि आदि उनके मस्तक पर कब्जा जमा बैठे हैं।" (परख) दिमाग के स्थान पर 'मस्तक' का प्रयोग अशुद्ध है। 'मस्तक' अंग्रेज़ी के 'हैड' का अनुवाद लगता है।

"लड़के को इतनी तो रस्सी दी।" (परख) मुहावरा 'रस्सी दी' नहीं है अपितु 'ढील दी' है।

"सिर की पीड़ा को हाथों में लेकर खाट पर पड़ रहा और सो गया है।" (परख) सिर की पीड़ा को हाथों में कैसे लिया जाता है?

"वह संकल्प कमाने में लगा।" (परख, पृ० ६१) संकल्प कमाये नहीं जाते, किये जाते हैं।

"आमद-खर्च की हिसाबी बुद्धि पर चढ़ कर जब वह तौलने बैठता है—।" (परख) बुद्धि पर चढ़ा नहीं जाता।

"वह मना छोड़ेगा।" (परख) 'छोड़ेगा' अहिन्दी है। 'मना लेगा' ही शुद्ध है।

"सिट्टी भूल गये।" मुहावरा अधूरा है।

"जिसे विद्वानों ने खोजा, मर गए पर नहीं पा गये।"—शुद्ध रूप—पा सके।

"श्रीकान्त ने अनिवार्य बी०ए० किया।" (सुनीता)—शुद्ध रूप—अनिवार्यतः क्योंकि बी०ए० अनिवार्य नहीं होता।

"यह खत तुम्हें पा जाये तो फ़ौरन मुझे अपना हाल-चाल लिखना।" (सुनीता) खत तुम्हें पा जाये या तुम खत पा जाओ?

"कोई मैं यह हालत पसन्द करती हूँ ··· ? कोई मैं नहीं जानती कि सब···?" (सुनीता) शुद्ध—"क्या मैं ······ ?"

"लेकिन तुम्हें ख्याल है कि पन्द्रह रुपये मुझे अभी चाहेंगे।" (सुनीता) शुद्ध—पन्द्रह रुपये मैं अभी चाहूँगा या मुझे अभी चाहिएँ।

"घर-बार बसाकर आदमी अपने को हृस्व करता है।" (सुनीता) 'छोटा बनाने' के लिए 'हृस्व' शब्द अनुचित है।

"व] लहरें उठ अहरीं।" (सुनीता) अच्छी भाषा नहीं है।

"लिखते तो लिख दिया पर उसका हेतु ···।" (सुनीता) लिखने को तो लिख दिया—अधिक परिष्कृत है।

"मुझे आपके बारे में कहा करते थे।" (सुनीता) शुद्ध रूप—मुझ से आपके···।

"परोसते ही काम लेंगे।" (सुनीता) अहिन्दी। शुद्ध—बना लेंगे।

"कोशिश तो करता हूँ कि फिर उधर जाऊँ ही क्यों।" (कल्याणी) शुद्ध—कि फिर उधर जाऊँ ही नहीं।

"गनीमत है कि वह वक्त तो हमें निबाह सका।" (कल्याणी) शुद्ध—वह वक्त तो हम निबाह सके।

"आप ईर्ष्या से घायल हो जायें।" (कल्याणी) ईर्ष्या से घायल नहीं हुआ जाता, जला जाता है। 'ईर्ष्या में जलना' मुहावरा बन गया है।

"—सब नाम का पदार्थ इस दुनिया में कहाँ मिलेगा।" (कल्याणी) चीज या वस्तु के लिए 'पदार्थ' अनुचित है।

"—उस पर से देखती हूँ कि सामने सिर्फ़ फैलावट है, सिर्फ़ फैलावट।" (सुखदा) 'फैलावट' के स्थान पर 'फैलाव' होना चाहिये। 'फैलावट' में किसी की क्रिया का भाव सन्निहित है।

"मैं तुमको कहती हूँ, यह उसी · ।" (सुखदा) शुद्ध रूप—मैं तुम्हें कहती हूँ······।

"इसमें से दुनिया के काम-काज चला करते हैं।" (व्यतीत) शुद्ध रूप—इस के द्वारा।

"किताब खोलता और होते-होते सो जाता।" (व्यतीत)—इसका अर्थ अगम्य है।

"मुझे खयाल नहीं होने वाला है।" (व्यतीत) अहिन्दी प्रयोग।

"जहाज चलने के पाँच रोज है।" (व्यतीत)—यह अव्यहृत है।

"मुझे अनिता ही है।" (व्यतीत) शुद्ध—मेरे लिये अनिता ही है।

"विह्वलता से विरोधी—।" (व्यतीत) शुद्ध—विह्वलता के विरोधी।

"मैं बत्ती करती हूँ।' (व्यतीत) शुद्ध—मैं बत्ती बुझाती हूँ।

"मैंने दोनों हाथों में मुँह और कुछ न कह सका।" (व्यतीत) वाक्य सर्वथा असम्पूर्ण है।

'किसी की कृपा उठाना मुझे कठिन होता था।'' (व्यतीत) कृपा नहीं उठाई जाती, एहसान उठाया जाता है।

"लेकिन कहीं न रही मेरी कप्तानी और मर्दमी।" (व्यतीत) मर्दानगी के स्थान पर मर्दमी ?

वर्तनी दोष—उदाहरण—

डिगमगाती (डगमगाती), अन्तस्थ (अन्त.स्थ), अखीर (आखीर) मुशकिल (मुश्किल), परिणित (परिणत), ईर्शालु (ईर्ष्यालु) इत्यादि।

असाहित्यिक स्थानीय ठेठ प्रयोग—उदाहरण—

किन्नै, हूठ की नाईं, पुन्न, परतिग्या, तैंने, बिया, परसाद, माथे पै, अपने तईं, काहे की, तत्त-सत्त, हार-हूरू कर, रीति-नीति, मूरत, स्वीकारा, दरसाया, इकली, सोमता है, ताका किया, पहना की है आदि।

ग्राम्य-दोष उदाहरण—

"अकेली बेटी को जो विधवा है और बच्ची है—इसे चूसने को घात लगाये बैठी दुनिया से···।" (परख) 'चूसने' शब्द का प्रयोग सर्वथा भद्दा है।

"यह तो अब सब भुगत कर मैं जानी हूँ।" (सुखदा) 'जानी' शब्द एक दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करता है जो कुरुचि-पूर्ण है।

यह नितान्त सम्भव है कि इनमें से अनेक दोष प्रेस की अशुद्धियों के कारण हों। ऐसी दशा में हम जैनेन्द्र के उपन्यासों के प्रकाशकों से अनुरोध करेंगे कि वे अपना कार्य अतिरिक्त सावधानी से निभायें। स्वयं जैनेन्द्र का इस ओर ध्यान खींचने का साहस करेंगे कि वह भाषा-सौष्ठव के हेतु अवैयाकरणिक व कुरुचिपूर्ण प्रयोगों के प्रति सजग रह कर भाषा की ओर तनिक सचेष्ट हों। यद्यपि यह हम भली भाँति जानते हैं कि जैनेन्द्र के लिए कथा एवं भाषा की परिष्कृति चेतन मन पर इतनी निर्भर नहीं है, जितनी कि अवचेतन मन पर, फिर भी हम यह चाहेंगे कि वह कथित और साहित्यिक भाषाओं के पारस्परिक भेद पर अधिक ध्यान दें।

(आ) रूप-रचना के उपादान

सन्' ३७ में जब 'त्यागपत्र' प्रकाशित हुआ, तो निश्चय ही उसके साथ कथा कहने की एक नई प्रणाली का आविर्भाव हिन्दी में हुआ। उसके 'प्रारम्भिक' को पढ़कर मन में यह विश्वास जगता था कि वास्तव में ही पी० दयाल कोई जज रहे होंगे और 'त्यागपत्र' उनकी ही आत्म-कथा है। आत्मकथात्मक पद्धति को 'त्यागपत्र' के अतिरिक्त, उपन्यासकार ने 'कल्याणी', 'सुखदा' और 'व्यतीत' में भी अपनाया है। इनमें 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' की यह विशेषता है कि वे कथा कहने वाले की कहानियाँ इतनी नहीं हैं जितनी कि क्रमशः कल्याणी और मृणाल की जिन्दगियों की है।

(क) कथा-उपस्थापन की पद्धतियाँ

आत्मकथात्मक उपन्यास के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि उसमें पूर्व-दीप्ति का प्रयोग किया ही जाये अर्थात् आत्म-कथा सीधी इस प्रकार भी आरम्भ की

जा सकती है कि—जब मैं दस वर्ष का था तो·····।[1] किन्तु जैनेन्द्र ने अपने सभी आत्म-कथात्मक उपन्यासों में पूर्व दीप्ति का उपयोग किया है क्योंकि रोचकता की उद्भावना पूर्वदीप्ति करती है, प्रत्युत बीच-बीच में कथा कहने वाले को आज की स्थिति पर विवेचन करने का अवकाश भी देती है। जैनेन्द्र ने पूर्वदीप्ति का समीचीन प्रयोग किया है। उन के सभी पात्र बीती हुई घटनाओं के सम्बन्ध में आज की दृष्टि से गुण-दोष का विवेचन भी प्रस्तुत करते चलते हैं, साथ ही जीवन के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं की अप्रत्यक्ष रूप से स्थापना का अवसर भी जैनेन्द्र को मिल जाता है।

निश्चय ही, पूर्वदीप्ति के साथ आत्मकथा का प्रस्तुतीकरण जैनेन्द्र के उपन्यासों में बड़ा ही सफल हुआ है। इससे उनकी आत्मा को स्वाभाविकता और यथार्थता की देह प्राप्त हुई है।

'परख', 'सुनीता' और 'विवर्त' की रचना जैनेन्द्र ने साधारण इतिहासकार की भाँति की है। वर्णन, विवरण, तथा विवेचन सभी उनका अपनी ओर से हुआ है। किन्तु रोचकता की दृष्टि से आत्मकथात्मक उपन्यासों की तुलना में ये कृतियाँ अधिक सफल नहीं हैं।

यह प्रस्तुत उपन्यासों का वैशिष्ट्य है कि 'परख' (प्रथम रचना) को छोड़ कर किसी अन्य कृति में लेखक ने पात्रों की आकृति, उनके रूप-रंग, वेष-भूषा आदि का

(ख) पात्रों की आकृति आदि का वर्णन

वर्णन नहीं दिया है। यदि 'कल्याणी', 'विवर्त' आदि में यत्किंचित् वर्णन वेश-भूषा का मिलता भी है तो कथा में उसकी अनिवार्यता के कारण। वास्तव में, मानव की मनो-भूमि पर अधिष्ठित होने के कारण, कायिक आदि मानव की बाह्यात्मक विशेषताओं का मूल्य जैनेन्द्र के उपन्यासों में नहीं है।

(ग) स्थूल जगत् के चित्रण का साधारणतः अभाव

बाह्यात्मकता को प्रस्तुत उपन्यासों की रूप-रचना के उपादानों में अधिक महत्व का स्थान नहीं मिला है। पात्रों के आस-पास के भौतिक वातावरण का निरूपण जैनेन्द्र की लेखनी ने बहुत ही संयम से किया है। वस्तु-जगत् के प्रति इस दृष्टिकोण की व्याख्या भी 'मनोभूम्यन्तर्गमित्व के माग' के ग्रहण से ही की जा सकती है।

---

१. पूर्वदीप्ति के लिए यह आवश्यक है कि आत्मकथा-वाचक की वर्तमान स्थिति से उपन्यास का आरम्भ किया जाये और फिर पूर्वघटित जीवन की विवृति की जाये। जैसे—'व्यतीत' में।

किन्तु कहीं-कहीं उपन्यासकार ने वस्तु-जगत् के चित्रण में अपनी कलादक्षता का भी प्रदर्शन किया है जो उपन्यासों की आत्मा के अनुकूल नहीं है।

यथा—'विवर्त' में इस स्थल पर—

"ऊपर की मंजिल पर तीन कमरों की एक कतार है, पहले कमरे में—जो जीने के पास है और ज़रा बड़ा है—एक युवक, आधी आस्तीन की बनियाननुमा शर्ट पहने, हाफ पैंट में नंगे तख्त पर मेज अपने सामने लिये बैठा है। मेज भी नंगी है। बाईं तरफ एक ऐशट्रे (सिगरेट की राख झाड़ने का पात्र) है, सामने कागज फैलाए बढ़िया फाउण्टेनपेन से कुछ लिख रहा है। बाएँ हाथ में जलती हुई सिगरेट है। वह रह-रह कर रुकता है, खाली पाकर सिगरेट का कश लेता है और फिर झुक कर कलम आगे बढ़ाता है। कागज फुल-स्केप हैं, दो तीन लिखे हुए दाएँ हाथ को अलग एक पत्थर के टुकड़े से दबे हैं।

"इस बार व्यक्ति देर तक रुका रह गया। यह भी ध्यान में आया कि इस खालीपन को भरने के लिए उसके बाएँ हाथ की अँगुलियों के बीच में थमी हुई सिगरेट धुँआ दे रही है। वह सुलगी हुई सिगरेट जलती गई, यहाँ तक कि जलन उसकी त्वचा को छू गई। तब उसने सिगरेट के उस ठूँठ को जोर से मसलकर बुझा दिया। अनन्तर, क्षण के सूक्ष्म भाग तक ही वह रुका होगा, फिर झुक कर तेजी से कलम चला निकला। इस बार कुछ बीच में न आ सका। सोच, विचार, न झिझक। सामने का पृष्ठ पूरा हुआ और एक ओर कर दिया गया, और तीसरे पृष्ठ को आधा लिखकर उसने दाहिनी तरफ़ सरकाया। फिर सब लिखे हुए पन्नों को जमा करके बाकी कागज़ों के ऊपर रखा और पत्थर के टुकड़े को उसकी छाती पर। अब उसने अँगड़ाई ली, पैर से मेज को दूर किया और उठ खड़ा हुआ।"[1]

इस चित्रात्मक वर्णन के लिए क्या जैनेन्द्र की कला में उपयुक्त स्थान है? यहाँ तो ऐसे सूक्ष्म वर्णन गति में अवरोधक होने के कारण अरोचक ही हो जाते हैं।

---

१. 'विवर्त' पृ० ७-८।

उपन्यासकार जैनेन्द्र को इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं है कि अब प्रातः हुआ है और पूर्व क्षितिज पर से भास्कर आलोक बिखेर रहे हैं, अथवा कि सामने पर्वत शृंखलाओं में से चाँद झाँक रहा है। साधारणतः यदि कथा का इन बातों से विशेष गहरा सम्बन्ध हुआ तो कथाकार इनकी ओर दो-चार पंक्तियों में इंगित भर कर देता है। और यदि कहीं प्रकृति का विस्तृत वर्णन भी किया गया है, तो उसका पात्र-विशेष की अन्तरानुभूतियों व मनोदशाओं से खास लगाव रहता है।[1]

(घ) प्रकृति-चित्रण की विरलता

यह प्रकृति-चित्रण 'विवर्त' में तो थोड़ा बहुत मिल भी जाता है किन्तु 'कल्याणी', 'त्यागपत्र' व 'व्यतीत' में तो अत्यन्त विरल और अलभ्य-प्राय: है।

(ङ) दर्शन व नाटकीयता

अनेक बार पहले ही कहा जा चुका है कि स्थूल नैतिकता के सत्-असत् के विचार को जैनेन्द्र ने अपने उपन्यास-साहित्य में महत्त्व नहीं दिया है। जीवन के शाश्वत प्रश्नों व समस्याओं पर ही 'आत्मव्यथा' में से प्राप्त 'आत्मज्ञान' के आधार पर प्रकाश डालने का प्रयत्न आलोच्य उपन्यासों में हुआ है। यह प्रकाश इन रचनाओं में स्थल-स्थल पर उपयुक्त समय पाकर उद्भासित होता रहा है। ये दार्शनिक उक्तियाँ, जहाँ तक 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' का सम्बन्ध है, प्रत्येक में दो-दो स्थलों पर संगृहीत हैं किन्तु अन्य उपन्यासों में यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं। किन्तु कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये दार्शनिक विचार ऊपर से थोपे गये हैं और कथा के अवयव नहीं हैं। इसके विपरीत, ये सार-गर्भित कथन कथाओं में सम्पूर्णतः एकसार और तत्सम हैं, और किसी स्वर्णहार में कान्तिमान रत्नों के समान जटित हैं। जैनेन्द्र की दार्शनिक दृष्टि में जीवन की गहन गम्भीर जटिलताओं एवं प्रश्नों का चिन्तन एक महनीय व्यापार है और हमारी परिमित शक्तियों के लिये पर्याप्त भी।'

प्रस्तुत आलोच्य कृतियों में नाटकीयता के पुट के विषय में भी हम पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। यह नाटकीयता घटना-संयोजनगत और कथोपकथनगत दोनों ही प्रकार से जैनेन्द्र के उपन्यासों में वर्तमान है। वस्तु-गुम्फन में इस नाटकीयता का आविर्भाव रोचकता और औत्सुक्य की वृद्धि के हेतु कार्य-व्यापारों के निमित्तों को रहस्य के आवरण में प्रच्छन्न करने से हुआ है, जब कि संवादों में एक मात्र रोचकता की दृष्टि से।

---

१. यथा—विवर्त, पृ० १४८

कथा-निर्माण में संकेत शैली का उपयोग जैनेन्द्र के शिल्प-कौशल का ए
प्रमुख वैशिष्ट्य है। घटना-क्रम को पूरे विस्तार में विवृति न देकर अनावश्यक वर्ण
का परिहार और कल्पना-ग्राह्य घटनाओं की ओर संकेत मात्र कर देना संकेत-शैली क

(घ) संकेत-शैली का उपयोग

उपादान है। 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' में अपने विशि
क्रिया-कल्प के कारण संकेत शैली की खास मांग थी। जैनेन्द्र ने
उसकी सम्यक् रूपेण पूर्ति की है। उपर्युक्त दोनों उपन्यासों में
न केवल 'पूर्वदीप्ति' नामक कथा-उपस्थापन की पद्धति-विशेष
का प्रयोग किया गया है, अपितु उनमें, 'सुखदा' और 'व्यतीत' के विपरीत, कथावाचक स्वयं कहानी के केन्द्र नहीं हैं। उन्हें किसी अन्य दो व्यक्तियों की कहानी कहनी है, स्वभावतः ही वे उन दोनों के जीवन के सम्बन्ध में सब कुछ नहीं जानते हैं उसे उसकी सम्पूर्णता में नहीं जानते। वे तो क्रमशः कल्याणी और मृणाल के जीवन के सम्बन्ध में इधर-उधर बिखरे हुए सूत्रों को ही संकलित कर पाते हैं, और उन सूत्रों को ही (उनमें यथासाध्य क्रम-सम्बन्ध स्थापित करके) अपनी कथा में प्रस्तुत करते हैं। इन सूत्रों ने ही 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' में संकेत-शैली को सर्वाधिक अवकाश प्रदान किया है।

उदाहरणार्थ हम 'त्यागपत्र' की कुछ घटनाओं को लेते हैं। इसके लिए 'त्यागपत्र' में से कुछ वाक्य उद्धृत किए जा रहे हैं।

'प्रमोद, तू शीला को जानता है? शीला बड़ी अच्छी लड़की है पर नटखट भी है। हम दोनों बहनेली हो गई हैं।"" ""प्रमोद, तुझे एक रोज़ शीला के घर ले चलूंगी। चलेगा?"

"कहते-कहते थोड़ी देर बाद एकाएक जानें उन्हें क्या याद आ जाता चिहुँक पड़तीं।"

....

"लेकिन तभी मैंने अनुभव किया कि उनके प्यार का रूप बदल गया है। वह मुझे अब उपदेश नहीं देतीं बल्कि अपनी छाती से लगा कर आने पार कहीं देखने लगती है।"

....

"मैंने उस समय यह भी अनुभव किया कि उन्हें अब एकान्त उतना बुरा नहीं लगता।"

....

"एक रोज स्कूल से वह काफी देर से लौटीं। माँ ने पूछा—कहाँ रह गई ? ?"

"शीला के चली गई थी।"

"माँ सुन कर चुप हो गईं।"

"उस दिन बुआ रोज से अस्थिर मालूम होती थीं। वह प्रसन्न थीं और किसी काम में उनका जी नहीं लगता था।"

....

"एक बात कहती थीं कि झट भूल जाती थीं। उस समय उनके मन में ठहरता कुछ नहीं था। न विचार, न अविचार।"

....

"उस रोज के बाद कई दिन तक उन्हें स्कूल से आने में देर होती रही। एक रोज इतनी देर हुई कि नौकर को भेजना पड़ा और वह उन्हें शीला के घर से बुला लाया।"

....

"..........उसके बाद ही सपासप बेंत से किसी के पीटे जाने की आवाज मेरे कानों पर पड़ी। मैं वहीं खड़ा-सा रह गया। बेंत की पहली चोट पर तो एक चीख मुझ को सुनाई दी थी, उसके बाद रोने-कलपने की आवाज मुझे नहीं आयी। बेंत तड़ातड़ पड़ रहे थे। मुझे सन्देह हुआ कि बुआ तो नहीं है।"

....

"थोड़ी देर बाद मैं साहस-पूर्वक उस कोठरी में गया। देखता क्या हूँ कि वह बुआ औंधी हुई पड़ी थीं।"

....

"वह दिन था कि फिर बुआ की हँसी मैंने नहीं देखी। इसके पाँच-छह महीने बाद बुआ का ब्याह हो गया।...... बुआ का उसी दिन से पढ़ना छूट गया था।"

....

"······ मुझे जहाँ भेज दिया गया है प्रमोद, मेरा मन वहाँ का नहीं है। तू एक काम करेगा ?"

·····················

"करेगा ?"

·····················

"शीला के जायगा ?"

"जाऊँगा।"

"जाकर क्या करेगा ?"

·····················

"अगले रोज एक कागज लेकर मुझे शीला के यहाँ भेजा गया। मैं शीला को जानता था, उसके कोई बड़े भाई हैं, मैं नहीं जानता था। कागज उन्हीं के हाथ में देने को कहा गया था।"

·····················

"शीला के भाई ने भी एक चिट्ठी लिख कर मेरी जेब में रख दी।"

·····················

"जो खत दिया था, वह लिफाफे में बन्द नहीं था।······ मैंने उसे खोल-कर देखा।·········खत के ऊपर का My dear तो मुझ को इतना अच्छा लिखा मालूम हुआ कि बहुत दिनों तक अपने पत्रों के My dear को मैं वैसा ही बनाने की कोशिश करता रहा। घर आकर मैंने पत्र सीधा बुआ को दे दिया और वह उस को खोल कर तभी पढ़ने लग गई। खत बड़ा नहीं था। लेकिन कई मिनट तक वह उसे पढ़ती रहीं। यह भी भूल गई कि प्रमोद भी उनका कोई है और इस वक्त वह पास ही खड़ा है।"

'त्यागपत्र' में से लिए हुए ये वाक्य, संकेत-शैली में चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई जैनेन्द्र की कला-रचना का परिचय देते हैं। ये सभी वाक्य एक ही बात की ओर संकेत करते हैं और वह है मृणाल और शीला के भाई का प्रेम। किसी प्रकार के रहस्य से युक्त, स्पष्ट, स्वीकारोक्ति कहीं नहीं मिलती! और यह संकेत की कितनी

बाद में दिया गया है। इससे पूर्व, मृणाल पाठक के लिए अमित रहस्यमयी नारी दिखाई पड़ती है, उसके हृदय में मृणाल के व्यक्तित्व के प्रति अतीव विस्मय और औत्सुक्य के भाव उद्बुद्ध रहते हैं। वास्तव में यह कला के प्रति सच्चाई की दृष्टि से अपेक्षित भी था क्योंकि पी० दयाल की कथा में बालक प्रमोद बुआ के प्रेम के सम्बन्ध में और अधिक कुछ जान भी क्या सकता था? प्रेम के कारण परिवर्तित मृणाल का व्यक्तित्व स्वयं उसके लिए विचित्र, अनबूझ और आश्चर्यकारी बन गया था।

'कल्याणी' में संकेत-शैली का प्रयोग, कदाचित् अपनी सीमा पर पहुँच गया प्रतीत होता है क्योंकि 'कल्याणी' में नायिका के प्रति पाठक के मन का रहस्य अत्यन्त सघन और संपुटित हो जाता है।

'सुनीता', 'सुखदा' आदि अन्य उपन्यासों के वस्तु-निर्माण में भी मार्मिकता और सौन्दर्य का समावेश संकेत-शैली के कारण ही हुआ है।

वस्तुतः इस संकेत-शैली के प्रयोग ने आलोच्य कृतियों में विलक्षणता का संस्पर्श दिया है। यही नहीं, औत्सुक्य और रोचकता की सृष्टि करने के कारण (जिसकी जैनेन्द्र जैसे गम्भीर लेखक में अत्यधिक आवश्यकता है) संकेत-शैली प्रस्तुत उपन्यासों की प्राण है। उनकी सफलता इसकी सफलता है।

शैली के अन्तर्गत रूप-रचना के उपादानों का विवेचन करते समय उपर्युक्त प्रश्न पर विचार करना हमारी समझ में असंगत नहीं होगा। निर्माण-तत्त्वों का निरूपण करते समय किसी भी उपन्यास के सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वभावतः ही उठता है, कि उपन्यासकार अपनी कला में यथार्थवादी है अथवा आदर्शवादी।

(छ) यथार्थवाद या आदर्शवाद

यथार्थवाद के लिए वस्तुगत दृष्टिकोण अनिवार्य होता है। डा० नगेन्द्र के शब्दों में—"यथार्थवाद से तात्पर्य उस दृष्टिकोण का है जिस में कलाकार अपने व्यक्तित्व को यथासम्भव तटस्थ रखते हुए वस्तु, जैसी वह है, वैसी ही देखता है, और चित्रित करता है।"[1] किन्तु आदर्शवादी कलाकार वस्तु-निष्ठता को इतना सर्वोपरि महत्व नहीं देता। कलाकार जब "वस्तु पर अपने भाव और विवेक का आरोप कर देता है तो उसका दृष्टिकोण आदर्शवादी बन जाता है।"[1] आदर्शवादी के आदर्श स्वर्गलोक के स्वप्न नहीं होते, उनकी जड़ धरती में और यथार्थता में रहती

है, अन्यथा वह कलाकार आदर्शवादी न रहकर, रंगीन कल्पनाओं के कारण रोमानी कलाकार बन जायेगा। यथार्थवाद और आदर्शवाद में मौलिक विरोध है। यथार्थवादी आदर्शवादी नहीं होगा और आदर्शवादी को यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता।

इस दृष्टि से यदि हम देखें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि जैनेन्द्र का वस्तु के प्रति दृष्टिकोण सर्वथा वस्तु-निष्ठ नहीं है, उनके अपने आदर्श हैं (जिनकी विवेचना इसी अध्याय में की जा रही है) और अपनी कृतियों में जिनकी प्रतिष्ठा उन्हें अभीष्ट है। अपने आदर्शों के प्रति वह खूब जागरूक हैं और अपने साहित्य में उनके प्रतिपादन करने में वह निरन्तर सचेष्ट हैं। किन्तु चूँकि उनके आदर्श पूर्णतः व्यावहारिक हैं, अर्थात् उनका वस्तु-जगत से सीधा सम्बन्ध है, जैनेन्द्र रोमानी कलाकार नहीं हैं। यह स्थापना, एक ओर तो, उनके साहित्य में कल्पना और भाव-प्रवण रंगीन वातावरण की शैली का परिहार करती है जो एक रोमानी कलाकार की सम्पत्ति है, दूसरी ओर इस बात की पुष्टि करती है कि जैनेन्द्र ने अपने आदर्शों के अधिष्ठापन के लिए व्यावहारिकता-पूर्ण शैली को अपनाया है। निश्चय ही, जैनेन्द्र ने अपने वक्तव्य के प्रस्तुतीकरण के लिए यथार्थवादी शैली को ग्रहण किया है, जिसे सामान्यतः यथार्थोन्मुख आदर्शवाद कहा जाता है। और वास्तव में एक यथार्थवादी कलाकार में अपने आदर्शवादी साथी से इतनी ही भिन्नता होती है कि वह कथा का निर्माण किसी लक्ष्य या उद्देश्य की दृष्टि से नहीं करता अपितु संसार की वास्तविकताओं को यथावत् चित्रित करता है। इसके विपरीत, आदर्शवादी कलाकार जगत के प्रति अपना वैयक्तिक दृष्टिकोण रखने के लिए कथा में कुछ खास मोड़ पैदा करता है।

प्रेमचन्द भी यथार्थोन्मुख अथवा व्यावहारिक आदर्शवादी कलाकार थे। उनमें और जैनेन्द्र में इतना ही भेद है कि प्रेमचन्द बहुत कुछ तात्कालिक नैतिक विधान को मानकर साहित्य-सृजन करते थे, जबकि जैनेन्द्र सामाजिक नैतिक विधान को अन्तिम नहीं मानते। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द स्थूल भौतिक सत्यों के उद्घाटन में ही अधिक प्रवृत्त और व्यस्त रहे, जबकि जैनेन्द्र भौतिक स्तर से ऊपर उठ कर चिरन्तन प्रश्नों पर अपना मन्तव्य हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

(उ) रस

उपन्यास के सम्बन्ध में जब 'रस' का प्रयोग किया जाता है तो निश्चय ही शास्त्रीय अर्थ में नहीं क्योंकि विभावानुभाव व्यभिचारी का शास्त्रीय संयोग उपन्यास जैसी साहित्य की सर्वथा आधुनिक विधा में सम्भव नहीं। इसके सन्दर्भ में तो 'रस'

शब्द के प्रयोग से अभिप्राय होता है उपन्यास के भाव-पक्ष का। क्या आलोच्य कृति का भाव-पक्ष पर्याप्त समृद्ध है? क्या उसमें पाठक की भाव-भूमि को स्पर्श करने की शक्ति है, यदि है तो किस सीमा तक? क्या उसमें बुद्धि-पक्ष की प्रधानता से नीरसता तो नहीं आ गई है? ये ही कुछ संगत प्रश्न हैं जो उपन्यास के रस-विवेचन में उठाये जा सकते हैं।

जैनेन्द्र के समस्त उपन्यास-साहित्य में रस को पर्याप्त अवकाश मिला है। इनके उपन्यास जहाँ एक प्रकार की कचोट, जलन और उद्वेलन की स्थिति उत्पन्न करते हैं, वहाँ साथ ही उनमें करुणा का न्यूनाधिक प्लावनकारी सस्पर्श मिलता है। जबकि कचोट, जलनादि का अनुभव विशेष-विशेष स्थलों पर होता है, करुणा जैनेन्द्र के उपन्यासों में आद्यन्त प्रवाहित रहती है। इसी करुणा के भाव में उपन्यास के अन्त में जैसे जलन, कचोट आदि प्रतिक्रियायें निमज्जित हो जाती हैं। ये प्रतिक्रियाएँ मन में इसलिए उठती हैं कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में प्रचलित स्थूल नैतिक नियमों की अवहेलना की जाती है। परन्तु ये प्रतिक्रियाएँ स्थायी नहीं रह पातीं क्योंकि इनकी स्थिति पाठक में होती है, स्वयं पात्रों के मनोजगत में इनका अभाव रहता है। उपन्यास से पोषण में मिलने पर ये शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं। पात्रों की ओर से पाठक को एक ही भाव मिलता है और वह है करुणा का। इसलिए जैनेन्द्र के उपन्यासों का मुख्य प्रभाव करुणा ही है। यहाँ करुणा से तात्पर्य करुण रस का नहीं है क्योंकि करुण रस का स्थायी भाव शोक होता है। यह करुणा या तो विप्रलम्भ शृंगार की पीड़ा है या फिर जीवन-दर्शन की दृष्टि से जीवन की असफलता का अनुताप है।

चूँकि अभेदानुभूति के लिए जैनेन्द्र को आत्म-व्यथा साध्य है, अतएव उनके प्रत्येक उपन्यास के निर्माण में करुण भावों का यथेष्ट योग रहा है। करुण वातावरण की सृष्टि करके पाठक के हृदय में आत्म-व्यथा की महत्ता उद्भासित करना ही जैनेन्द्र के उपन्यास-लेखन का लक्ष्य है। यदि पाठक चरित्रों के आत्म-पीड़न से प्रभावित नहीं होता, तो जैनेन्द्र मान लेंगे कि वह अपनी कला में असफल रहे हैं। किन्तु हम समझते हैं कि पूर्वग्रह से मुक्त पाठक निश्चय ही चरित्रों की हृदय की पुंजीभूत वेदना से व्यथित और द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता।

करुण वातावरण की इस सृष्टि में निम्नलिखित तत्त्व सहायक रहे हैं:

१. निराश प्रेम—प्रस्तुत औपन्यासिक रचनाओं के कई पात्रों को प्रेम में निराशा का सामना करना पड़ा है। प्रेम में इस निराशा का मूल कारण किसी एक

की अहम्मन्यता रही है। बचपन के अहंकार के कारण 'परख' में कट्टो को अपने प्रेम में नैराश्य ही प्राप्त हुआ है। उस समय उसके हृदय की गहनता, उदासता एवं तीव्र आत्मव्यथा का सशक्त चित्रण हुआ है। 'त्यागपत्र' में मृणाल अपने प्रेम में असफल रही है। बाद में अपने पति से भी उसका तादात्म्य नहीं हो पाता। प्रेम की असफलता और पति-गृह से बहिष्कृति के कारण उसके व्यक्तित्व में आत्म-वेदना अत्यन्त सघन हो गई है। मृणाल के चरित्र में पाठक के हृदय को द्रवित करने की शक्ति है। 'कल्याणी' में कल्याणी का भी अपने मित्र 'प्रीमियर' के साथ संयोग नहीं हो पाता। विवाहितावस्था में अपने पति में अपने व्यक्तित्व को लीन करने में वह सदैव सचेष्ट है किन्तु उसका अन्तर्मन उसको सहयोग नहीं देता। इसी अन्त:संघर्ष के कारण कल्याणी की घोर मनोवेदना से समस्त उपन्यास संकुल है। अपनी अहं-वृत्ति के कारण ही सुखदा भी अपने पति कान्त से तन्मय नहीं हो सकी। जीवन की अन्तिम वेला में उसके अन्तस् में अदम्य अनुताप से तप्त पीड़ा का उदय हुआ है। और यही यातना 'सुखदा' उपन्यास में आद्यन्त संव्याप्त है। 'विवर्त' का जितेन प्रेम में निराशा पा कर अहंकारी बन जाता है और अहंकार उसे प्रचण्ड और दुर्दान्त बना देता है। किन्तु भुवनमोहिनी के स्नेह की लौ में जब उसका अहं गलता है तो उसकी चेतना में व्यथा जगने लगती है जो यद्यपि इतनी स्पष्टत: अभिव्यक्त नहीं है फिर भी वह इतनी घनीभूत हो जाती है कि वह आत्म-समर्पण कर देता है। 'व्यतीत' के नायक जयन्त में प्रेम में प्राप्त नैराश्य से उत्पन्न अहंकार इतना भयंकर हो उठा है कि उसका मन किसी भी अन्य नारी में रम नहीं सकता। जीवन में वह बिल्कुल भी सुख नहीं पा सकता है और इसी कारण आज उसका मन व्यथा से आपूर्ण है। हृदय की इस करुण स्थिति ने समग्र उपन्यास को करुणा से सिक्त कर दिया है।

काम की अभुक्ति प्रेम की निराशा से असम्बद्ध नहीं है। वासना की अतृप्ति के कारण भी अनेक पात्रों में व्यथा ने जन्म पाया है। हरिप्रसन्न ऐसा ही एक पात्र है। उसमें वासना की अभुक्ति के कारण कितनी अन्तर्व्यथा है, इसका पता उसके प्रतीक उस चित्र से लगता है, जिसका निर्माण वह कर रहा है उस चित्र में मानो वह अपनी समस्त पीड़ा को कील देना चाहता है, उसे उतार कर स्वयं हल्का होना चाहता है। इसके अतिरिक्त सुनीता को पूर्णतया न पा सकने के कारण भी वह अत्यधिक व्यथित है। लाल और जितेन में भी काम की अभुक्ति उनकी मनोवेदना की उद्भूति में सहायक रही है। मृणाल के विषय में भी यही कहा जा सकता है। अभुक्त वासना भी उसके आत्म-पीड़न का एक कारण है।

२. विशिष्ट चरित्रों की सृष्टि—सुनीता और भुवनमोहिनी (और कुछ हद तक अनिता भी) ऐसे पात्र हैं जो अपने पतियों की श्रद्धा और प्रत्यय पा कर क्रमशः हरिप्रसन्न और जितेन नामक क्रान्तिकारियों के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार करती हैं। इनकी प्रचण्डता और धीरता को देखकर वे दुःखी हैं। साथ ही पतियों के असीम विश्वास पाने के कारण उनका मन भीगा-भीगा रहता है। ऐसी परिस्थितियों ने उनके व्यक्तित्व को करुण बना दिया है।

श्रीकान्त, कान्त और नरेश ऐसे पात्र हैं जिनका हृदय सदा द्रवित है और जो आत्म-व्यथा में से ही कर्म की प्रेरणा पाते हैं। उनका चरित्र-चित्रण मानो साकार आत्म-व्यथा ही।

३. नियतिवाद—नियति में जैनेन्द्र की आस्था ने भी इन उपन्यासों को करुण छाया प्रदान की है। नियति के अर्थात् भवितव्यता की निश्चितता के कारण मनुष्य अपने आप को तुच्छ और अकिंचन, अज्ञ और अवश पाता है। ऐसी दशा में उसके हृदय में करुण भावों का ही विकास होगा क्योंकि विश्व के सर्वथा अस्खलित नियमों के प्रकरण में वह अपने बौद्धिक तर्कों और अहन्ता में से उद्भूत कर्तृत्व की दुर्दम्यता को अल्प और अर्थहीन ही पायेगा। इस प्रकार यह नियतिवाद करुणा की पुष्टि ही करता है।

जैनेन्द्र के प्रायः सभी उपन्यासों में एक न एक पात्र नियतिवादी होता है। विधाता की इच्छा के सामने अपनी योजना की अल्पता का अनुभव करने पर उसमें करुण भावनाएँ जन्म लेती हैं और उसके व्यक्तित्व में सदयता और सहानुभूति का संस्पर्श आ जाता है।

४. दुःखान्त—'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' के अधिक मर्मस्पर्शी होने का एक कारण यह भी है कि ये उपन्यास दुखान्त हैं। 'त्यागपत्र' में मृणाल का और 'कल्याणी' में 'कल्याणी' का निधन हो जाता है। नायिकाओं के जीवन-समापन के ये प्रसंग अपने आप में ही हृदय-विदारक हैं, इस पर क्रमशः प्रमोद और वकील साहब पर इन की प्रतिक्रिया वातावरण को और भी अधिक मर्मान्तक बना देती है।

कुछ उपन्यासों में विशेष प्रकार के क्रिया-कल्प का प्रयोग किया गया है जिनके कारण उनमें किसी की मृत्यु से कथान्त न होने पर भी, कथा करुण बन गई है। 'सुखदा' और 'व्यतीत' में पूर्वदीप्ति के प्रयोग से क्रमशः सुखदा और जयन्त के अन्तिम

जीवनांश के पश्चात्ताप ने, जो सर्वत्र व्याप्त है, कथाओं में करुण उपादानों की योजना प्रस्तुत की है।

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि जैनेन्द्र का कोई भी उपन्यास, अपने पूरे अर्थ में सुखान्त नहीं है। 'परख', 'सुनीता', और 'विवर्त' अन्त में दुख और सुख के तत्त्वों के सन्तुलन से 'प्रसादान्त' हैं।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि इन उपन्यासों में बिखरी हुई दार्शनिक सूक्तियों में प्रतिबिम्बित जैनेन्द्र की बौद्धिकता के कारण करुणा का प्रभाव क्या मन्द नहीं हो गया है ? निश्चय ही बौद्धिक मुखरता भाव-प्रवणता में घातक होती है किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है ये उक्तियाँ बौद्धिक उतनी नहीं हैं जितनी कि हार्दिक। इन चिन्तन-परक स्थलों के पीछे लेखक की अपनी अनुभूति का प्रत्यक्ष प्रमाण है इन उक्तियों की शैली। जिस सहज गति और सहज भाषा में इन्होंने अभिव्यक्ति पायी है, वह बौद्धिक चिन्तन में दुर्लभ है। डा० देवराज के ये शब्द बहुत कुछ उसी ओर इंगित कर रहे हैं—"वास्तव में दार्शनिकता जैनेन्द्र का स्वभाव ही है, वह कहीं से बाहर की लाई हुई चीज नहीं है। तभी तो वह ऐसे घरेलू शब्दों में इतनी तीव्र भाषा में प्रकट हो जाती है। अपने दार्शनिक उद्गारों को लाने के लिए लेखक को किसी बड़े अवसर की अपेक्षा नहीं होती, न कोई भूमिका ही बाँधनी पड़ती है। वे सहज, स्वत निकल पड़ते हैं और पाठक को अपनी स्वाभाविकता एवं सरल आकस्मिकता से अभिभूत कर लेते हैं। साधारण पाठक को सन्देह भी नहीं होता कि वह कोई दुरूह बात सुन रहा है, वह सहसा चमत्कृत होकर रह जाता है।"

जैनेन्द्र के अचेतन में जैनी संस्कार और चेतन में युग-चेतना गान्धी-दर्शन के प्रभाव एवं मौलिक ज्ञान और अनुभूति ही उनके उपन्यासों में करुण भावों की स्थिति के लिए उत्तरदायी हैं।

(ऊ) देश-काल

यह पूर्णतः निर्दशित किया जा चुका है कि जैनेन्द्र ने अपनी औपन्यासिक कृतियों के 'विकास और निर्माण में बाह्य कार्य-व्यापारों की अपेक्षा मानसिक गुत्थों का अवलम्बन' ही अधिक लिया है। वस्तुतः जैनेन्द्र 'बाहर की गली और कोठरी की सभ्यता' के एवं 'आभ्यन्तरिक जीवन की ग्रुत्थियों और गहराइयों' के लेखक हैं। उनके सभी उपन्यासों में बाह्यात्मकता के विस्तार और निरूपण की अपेक्षा मानवात्मा के रहस्य स्पर्शों का अन्वेषण ही प्रमुख रूप से परिलक्षित है।

आलोच्य उपन्यासों के देश-काल का विचार अधिक महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि इसका सम्बन्ध बाह्य जगत की स्थूलता से होता है। और 'परख', 'सुनीता', आदि उपन्यासों में मनोमन्थन, अन्तर्द्वन्द्व आदि मानसिक व्यापारों का लेखा ही प्रधान है क्योंकि मन का संस्कार इनका उद्देश्य है तथापि चूंकि मानव सामाजिक प्राणी है, अतः इन उपन्यासों में भी सामाजिकता तो है ही, राजनीतिक सस्पर्श भी है क्योंकि उससे लेखक की उद्देश्य पूर्ति में सहायता मिलती है। किन्तु इनका महत्व कितना गौण है, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि 'कल्याणी' के एक प्रमुख पात्र वकील साहब का नाम बताने का कथाकार ने कष्ट नहीं किया है। मजे की बात यह है कि कल्याणी का सारा इतिहास हमें इन्हीं वकील साहब के माध्यम से प्राप्त होता है।

'सुनीता', 'कल्याणी', और 'सुखदा' की कथायें भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के उन दिनों से सम्बन्ध रखती हैं जबकि आतंकवादी क्रान्ति का जोर शुरू हो गया था। 'सुनीता' में हरिप्रसन्न और 'सुखदा' में हरीश, लाल, सुखदा आदि क्रान्तिकारी पात्रों की अवतारणा है। 'कल्याणी' में भी पाल नामक क्रान्तिकारी का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त 'कल्याणी' में सन् '३७ से स्थापित कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल की ओर भी संकेत है। 'व्यतीत' भी स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्ववर्ती युग का उपन्यास है। इसका नायक जयन्त द्वितीय महायुद्ध में भाग लेता है और वीरता दिखाकर 'बहादुरी का तमगा' प्राप्त करता है।

'परख' और 'त्यागपत्र' की कथाओं में किसी भी प्रकार के राजनीतिक, अथवा सामाजिक घटना अथवा आन्दोलन का वर्णन अथवा संकेत उपलब्ध नहीं होता। यहाँ तक कि ऐसा भी कोई सूत्र नहीं मिलता जिससे यह ज्ञात हो कि उस समय भारत पराधीन था। यदि 'परख' और 'त्यागपत्र' के प्रकाशन-काल का पाठक को पता न लगे तो ये उपन्यास आज की परिस्थितियों के लिए भी सम्पूर्णतः उपयुक्त बैठते हैं।

'विवर्त' की पृष्ठभूमि किस काल की है यह अनिश्चित है। नायक जितेन को 'देशव्यापी षड्यन्त्र' का सूत्रधार कहा गया है, परन्तु वह हरिप्रसन्न, लाल आदि की भाँति क्रान्तिकारी था या नहीं, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता क्योंकि जितेन की राह को 'अपराध की राह' के नाम से अभिहित किया गया है। इसके अतिरिक्त स्वदेशी मन्त्रियों की पार्टी का और टेलीफ़ोन करने में दो आने के व्यय का उल्लेख

'विवर्त' में मिलता है। ये बातें इस बात को पुष्ट करती हैं कि जितेन के कार्य-व्यापारों का समय स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद का है क्योंकि एक, मिनिस्टर के सम्बन्ध में उपर्युक्त कथन स्वाधीन शासन की ओर संकेत है, दूसरे दिल्ली में जहाँ कि 'विवर्त' की घटनाएँ घटती हैं, टेलीफ़ोन के लिए दो आने के व्यय की प्रणाली कुछ वर्ष पूर्व से ही प्रारम्भ हुई है। किन्तु, यदि जितेन स्वाधीनता-संग्राम का क्रान्तिकारी नहीं है तो स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद ऐसा कौन-सा राजनीतिक आन्दोलन हुआ है जिसमें 'देशव्यापी षड्यन्त्र' रचाया गया हो? क्या षड्यन्त्र की बात कोरी कल्पना है? यदि कल्पना ही है तो भारतीय स्वाधीनता के उत्तर काल के राजनीतिक वातावरण के साथ क्या लेखक को इतनी स्वतन्त्रता लेने का अधिकार है? और फिर यह घटना कथा में इतनी विश्वसनीय भी तो नहीं है। क्या जैनेन्द्र के उपन्यास में 'क्रान्तिकारी' पात्र होना आवश्यक है?

जैनेन्द्र के अधिकांश उपन्यासों की घटनाएँ दिल्ली में घटती हैं। कारण यह है कि स्वयं जैनेन्द्र दिल्ली के स्थायी निवासी हैं। और फिर जैसे कोई अन्य नगर हुआ, वैसे ही दिल्ली हुआ। वस्तुतः प्रस्तुत उपन्यासों में इसका कोई अधिक महत्त्व नहीं कि कौन-सा नगर है, कौन-सा नहीं है। वैसे औपचारिक दृष्टि से देखें तो 'त्यागपत्र' और 'व्यतीत' को छोड़कर अन्य प्रत्येक उपन्यास की पृष्ठभूमि में दिल्ली तो अनिवार्य रूप से है ही। इसके अतिरिक्त 'परख' में काश्मीर और एक गाँव, और 'व्यतीत' में काश्मीर, शिमला, बम्बई, आसाम आदि भी अन्य स्थान हैं जहाँ अनेक घटनाएँ घटती हैं। 'त्यागपत्र' में घटनाओं के केन्द्र संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के कुछ ज़िले हैं जिनके नाम नहीं दिए गए हैं। इस प्रकार से नाम गिनाने के अतिरिक्त उपन्यासों के 'देश' के विषय में अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनमें स्थानीय रंग नाम मात्र को ही है। अधिकतर घटनाएँ अपने-अपने स्थानों के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी बिना किसी हानि के घट सकती थीं।

यदि अभिधार्थ न लिया जाए, तो जैनेन्द्र के उपन्यासों को 'देशकालातीत' कहा जा सकता है। इन उपन्यासों में चूँकि प्रत्येक तत्त्व अधिकतर अपनी अनिवार्य संगति और आवश्यकता के लिए ही ग्रहण किया जाता है और चूँकि इन में व्यंग्य-शैली की प्रधानता है, देश-काल इनके निर्माण में अपेक्षाकृत उपेक्षणीय उपकरण हैं।

(ए) उद्देश

उपन्यास के उद्देश की ओर संकेत करते हुए प्रसिद्ध अंग्रेज़ी उपन्यासकार हैनरी जेम्स ने कहा है कि "उपन्यास की सत्ता का एकमात्र कारण यह है कि वह

जीवन को चित्रित करने का प्रयत्न करता है।" [१] डा० मुलर ने इसी बात को इन शब्दों में स्पष्ट किया है, "उपन्यास मूलतः मानवीय अनुभवों का चित्रण है, चाहे वह यथातथ्य हो अथवा आदर्श, और इस कारण उपन्यास निश्चय ही जीवन की आलोचना है।" [२] वास्तव में उपन्यास में सोद्देश्यता का समावेश उपन्यासकार द्वारा जीवन अथवा जीवन के खण्ड-विशेष के संबंध में अपने वैयक्तिक मन्तव्य के उपस्थापन के कारण होता है।

इसकी स्थापना हम पहले ही कर चुके हैं कि जैनेन्द्र आदर्शवादी अर्थात् सोद्देश कलाकार हैं। उनका जीवन के प्रति अपना एक वैयक्तिक दृष्टिकोण है और उसी दृष्टिकोण की पुष्टि में उनके समग्र उपन्यास-साहित्य का सृजन हुआ है। परन्तु आदर्शों का यह पोषण कला-पक्ष की हीनता का कारण कहीं-कहीं बना है। क्योंकि (माचवे जी के शब्दों में) "जैनेन्द्र में विचारक कलाकार अपने कलात्मक और विचारात्मक अस्तित्व को किसी भी प्रकार, कभी कहीं भी, ज़रा भी एक दूसरे से अलग न देख पाता है और न रख ही पाता है।" वस्तुतः आलोच्य उपन्यास में बौद्धिक पक्ष और भाव-पक्ष का विकास अपूर्व समन्विति में हुआ।

जैनेन्द्र की यह मान्यता है कि 'अगर साहित्य में श्रेय होगा तो पहले लिखने वाले का होगा। पढ़ने वाले को इस मामले में अनिवार्य पीछे रहना होगा। अपने लिखने का पहला लाभ मुझे मिलेगा और मैं लूँगा। उसके बाद पाठक को भी अगर कुछ मिलता होगा तो उसको कैफियत वह देगा।" [३]

इस प्रकार उद्देश के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ हो जाती हैं : एक उद्देश लेखक की दृष्टि से, दूसरा उद्देश पाठक की दृष्टि से।

उद्देश—लेखक की दृष्टि से— जैनेन्द्र 'लोकहिताय' तक न जाकर अपने साहित्य को स्वान्तःसुखाय मानने के लिये तैयार हैं।

"मेरे अपने मामले में लिखना मेरे लिए शुद्ध इस्केप और पलायन था।" वास्तविकता से बचकर अपने आरम्भिक काल में, जैनेन्द्र ने साहित्य में शरण ली और

१. 'Art of the Novel' by Henry James p-5
२. 'Modern Fiction' by Dr. Herbert J. Muller
३. लेख—'मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय'। पुस्तक—साहित्य का श्रेय और प्रेय—ले० जैनेन्द्रकुमार।

इस प्रकार यौवन-काल की घोर विषम परिस्थितियों के कारण आत्म-हत्या का जो विचार, जैनेन्द्र के मन में आया था उससे उनकी रक्षा हुई। "अपने भीतर की आत्म-ग्लानि, हीन भावनाएँ और उनमें लिपटी हुई स्वप्नाकांक्षाएँ—इन सब को कागज पर निकाल कर जैसे मैं ने स्वास्थ्य का लाभ किया।"[1] "इस अनुभव से मैं कहूँगा कि साहित्य का पहला श्रेय है जीवन का लाभ। अपनी अंतरंगता की स्वीकृति और प्राप्ति, अपने भीतर के विग्रह की शांति, उलझन की समाप्ति और व्यक्तित्व की उत्तरोत्तर एकत्रितता।"

"यह तो कहानी लिखने में से आया। फिर उस कहानी के छपने में से आया, वह भी श्रेय के जमा खाते में है।" वास्तव में अपने यौवन की हीन अवस्था में, साहित्य-लेखन के कारण धन के रूप में जो कुछ धनिक की प्राप्ति हुई, उसकी जैनेन्द्र के जीवन में अत्यधिक महत्ता थी। "इससे आत्मिक से अलग कुछ शारीरिक या कि कहना चाहिए, ऐन्द्रियिक स्वास्थ्य मिला।" (आज भी जैनेन्द्र का एक प्रमुख आर्थिक स्रोत साहित्य-सृजन और प्रकाशन ही है।)

जैनेन्द्र से यदि यह पूछा जाये कि अपने सारे लिखने में अपने क्या कहा और क्या चाहा है तो उत्तर मिलेगा—'बुद्धि की दुश्मनी'। "एक तरह से या दूसरी तरह से सीधे या टेढ़े, उघड़ी कि लिपटी, वही-वही बात मैंने कहनी और देनी चाही है।"

'बुद्धि की दुश्मनी' से जैनेन्द्र का तात्पर्य क्या है ?

जैनेन्द्र के 'अन्दर सबसे गहरे में यह प्रतीति है कि बुद्धि अरमानी है।' "मानव बुद्धि उस तल की वस्तु है जहाँ का सत्य विभेद है, अभेद नहीं। वह अन्वय द्वारा चलती है, खण्ड-खण्ड करके समग्र को समझती है। अहंकार उसकी भूमिका है और द्वैत का पार्थक्य उसकी शर्त है।"[2] असल में 'स्व' और 'पर' का विभेद पाया है। जीवन की सिद्धि उनके भीतर अभेद अनुभूति में है। पर अभेद कहने से तो सम्पन्न नहीं हो जाता,—उसी के लिए है साधना, तपस्या, योग-तप। जाने अनजाने प्रत्येक 'स्व' उसी सिद्धि की ओर बढ़ रहा है। कुछ लोग वस्तु-जगत् को अपने भीतर से पाना

१. लेख—'मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय'। पुस्तक—'साहित्य का श्रेय और प्रेय' ले० जैनेन्द्र कुमार।
२. लेख 'साहित्य क्या क्यों ?' लेखक—जैनेन्द्र कुमार।

चाहते हैं दूसरे उसे बाहर से भी ले रहे हैं। संसार में इस प्रकार की द्विमुखी प्रवृत्तियाँ देखने में आया ही करती हैं। उन सब के भीतर से 'स्व' विशद ही होता चलता है, 'मेरा' का परिमाण संकीर्ण न रह कर विस्तृत ही होता जाता है। जितना वह 'मैं' विशद और विस्तीर्ण होता है, अहकार के भूत का जोर उस पर से उतना ही उतर कर हल्का होता है।"[1]

इस प्रकार बुद्धि द्वैत पर चलती है। 'इसलिए मेरे साहित्य का परम श्रेय तो हो रहता है अखण्ड और अद्वैत सत्य। उसी का व्यावहारिक रूप है समस्त चराचर जगत के प्रति प्रेम, अनुकंपा यानी अहिंसा।"[2]

बुद्धि के स्थान पर जैनेन्द्र आत्म-व्यथा का प्रतिपादन अपने उपन्यासों में करते हैं। "सच यह है कि आदमी के भीतर की व्यथा ही सच है। उसे सँजोते रहना चाहिए। वह व्यथा ही शक्ति है।"[3] अथवा "...........भीतर का दर्द मेरा इष्ट हो। धन मैल है, मन का दर्द पीयूष है। सत्य का निवास और कहीं नहीं है। उस दर्द की [illegible]ाभार स्वीकृति में से ज्ञान की और सत्य की ज्योति प्रकट होगी। अन्यथा सब ज्ञान [illegible]कौसला है और सब सत्य की पुकार अहंकार।"[4] आत्म-व्यथा एक ओर तो बुद्धि को [illegible]नावश्यक बनाती है क्योंकि "सचमुच जो शास्त्र से नहीं मिलता, वह आत्म-ज्ञान [illegible]ात्म-व्यथा में से मिल जाता है," दूसरी ओर आत्म-व्यथा अहंकार को घुलाती है। [illegible]हंकार के विगलन से अद्वैत और अहिंसा की प्राप्ति होती है और प्रेम व अखण्डता [illegible]ी लब्धि ही जैनेन्द्र के उपन्यास साहित्य का उद्देश है।

जैनेन्द्र की मान्यताओं को हम विश्लेषण करके क्रम से इस प्रकार रख [illegible]कते हैं :—

१. मानव अपने समग्र क्रिया-कलापों द्वारा एक ही सिद्धि की ओर बढ़ रहा और वह सिद्धि है अपने को विश्व से एकाकार करना और विश्व को अपने में [illegible]तिफलित देख लेना।

---

[1] लेख—'आलोचक के प्रति'—लेखक जैनेन्द्रकुमार।

[2] लेख—'मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय' ले॰ जैनेन्द्रकुमार।

[3] 'कल्याणी'—पृ॰—८०।

[4] 'त्यागपत्र'—पृ॰—३८।

२. जीवन की इस असम्पृक्तता व अद्वैतता और हमारे बीच में अहंकार का पर्दा है, अर्थात् अहंकार इस असम्पृक्तता की अनुभूति में बाधक है।

३. अहंकार विभेद की उत्पत्ति करता है और विग्रह, द्वेष, घृणा, अधिकार आदि विकारों का मूल है।

४. आत्मरति और परालोचन की प्रवृत्ति भी अहंकार-जन्य है।

५. अहंकार का विगलन आत्म-व्यथा की साधना द्वारा अभिप्रेत है।

६. अहंकार की शून्यता और समर्पण की वृत्ति के विकास में 'स्व' और 'पर' की भावनाएँ एकात्म होती हैं, और इस प्रकार के विस्तार से लोक-कल्याण सिद्ध होता है।

७. चूँकि प्रेम की यह स्थिति सभी प्रकार के सत् साहित्य का उद्दिष्ट है, अतः साहित्य इसके प्रतिपादन से लोक-कल्याण का साधन बनता है। अब हमें यह देखना होगा कि जैनेन्द्र की उपर्युक्त मान्यताओं की प्रतिष्ठा उनके उपन्यासों में कहाँ तक हुई है और पाठक पर उनका किस रूप में प्रभाव पड़ेगा।

उद्देश—पाठक की दृष्टि से—

इस सम्बन्ध में पाठक की हैसियत से प्रभाकर माचवे के मत का उल्लेख अनुपयुक्त न होगा। वह कहते हैं, "और यही वह अहं-भावना है जिसके विरुद्ध जैनेन्द्र ने समष्टि-प्रेम की भित्ति पर खड़े होकर, खुल्लमखुल्ला विद्रोह घोषित किया है। उनकी हरेक कृति का रोम-रोम आत्मोत्सर्ग और आत्मदान की इस महत् भावना से परिप्लावित है।"[1]

पहली विशेषता जो पाठक आलोच्य उपन्यासों के समष्टि-प्रभाव के सम्बन्ध में अनुभव करता है वह यह है कि इन सभी उपन्यासों में करुणा की तीव्र और प्रखर अन्तर्धारा प्रवाहित है। 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' में—'व्यतीत' को भी सम्मिलित किया जा सकता है—करुणा अत्यन्त घनीभूत हो गई है। मृणाल, कल्याणी और जयन्त की आत्म-व्यथा से पाठक व्यथित और विचलित हो जाता है और अहन्ता की व्यर्थता को समझता है। सुनीता, सुखदा और मोहिनी भी करुणा और श्रद्धा की साकार प्रतिमाएँ हैं और उनकी मनोवेदना भी पाठक के लिए असह्य-प्रायः है। श्रीकान्त, कान्त और नरेश के चरित्रों में तो जैसे प्रेम और असम्पृक्तता की भावना

१. भूमिका—'साहित्य का श्रेय और प्रेय'।

पुंजीकृत है, इनमें जैनेन्द्र की मान्यताओं का प्रत्यक्ष प्रतिफलन है। संक्षेप में, वास्तविकता यह है कि जैनेन्द्र का प्रत्येक उपन्यास 'अहंवृत्ति' की व्यर्थता और अनुपादेयता को चित्रित करता है और उसके स्थान पर निरहता और प्रेम का प्रचार करता है।

आक्षेप

जैनेन्द्र-साहित्य के उद्देश के अज्ञान अथवा उसकी अमान्यता के कारण जैनेन्द्र पर उनके उपन्यासों को लेकर अनेक लांछनाएं और आरोप लगाये गये हैं। जैनेन्द्र की मान्यताओं को ध्यान में रखकर उनके पक्ष से आरोपों का उत्तर व खण्डन इस स्थल पर सर्वथा असंगत न होगा। सत्य की सापेक्षता के कारण हम यहाँ यह मानकर चले हैं कि जैनेन्द्र की धारणाएँ पूर्णतः निर्भ्रान्त और अमिथ्या हैं।

जैनेन्द्र के उपन्यासों पर अनैतिकता और अश्लीलता का आरोप अनेक समालोचकों ने लगाया है। 'सुनीता' के प्रकाशन से हिन्दी-आलोचना-जगत में एक हल चल मच गई थी। इसमें अन्तिम पृष्ठों के सुनीता और हरिप्रसन्न के प्रसंग ने जैनेन्द्र को अनेक समीक्षकों के आक्रोश का भाजन बना दिया है। विनयमोहन शर्मा तो अश्लीलतापरक 'वास्तववाद' के चित्रण की दृष्टि से जैनेन्द्र को हिन्दी में आदि उपन्यासकार मानते हैं। उन्होंने अपने लेख में 'सुनीता' के उपर्युक्त प्रसंग को पूरा उद्धृत किया है।[1] इस प्रकार 'त्यागपत्र' में मृणाल और कोयले वाले के साहचर्य प्रसंग को लेकर प्रबल विरोध उठा है। नंददुलारे वाजपेयी जैसे मूर्धन्य आलोचकों ने इस प्रसंग को अनैतिक, और इस कारण निंद्य सिद्ध करने का यत्न किया है।[2] कल्याणी का चरित्र भी अनैतिकता की दृष्टि से लांछनातीत नहीं माना गया है। 'सुखदा' और 'विवर्त' के सम्बन्ध में श्रीपत राय का इसी दृष्टि से यह मत है, "नारी के निरीह आत्म-समर्पण का यह नग्न चित्र साहित्य में अनजाना है। कहीं यह लेखक की दमित वासनाओं (एवं आकांक्षाओं ?) का विस्फोट तो नहीं है ? पर कितना अधम, कितना अशोभन ? जैसे नारी का कोई व्यक्तित्व हो ही नहीं, वह मात्र कठपुतली हो।"[3] 'व्यतीत' चूंकि जैनेन्द्र की नव्यतम कृति है, अतः इस की समीक्षा हमारे देखने में नहीं आयी। फिर भी अनिता का जयंत के लिये आत्म-समर्पण करने

---

१. लेख— जड़वाद या वास्तववाद ?', पुस्तक—'दृष्टिकोण।'

२. लेख—'जैनेन्द्रकुमार और त्यागपत्र'—पुस्तक— आधुनिक साहित्य।'

३. 'जैनेन्द्र के पुजारी', 'आलोचना' वर्ष ३ अंक २, जनवरी, ५४।

की तत्परता के सम्बन्ध में 'असंयम' और 'अशोभन' शब्दों को तो श्रीपत राय जैसे आलोचकों की ओर से व्यवहृत किया ही जा सकता है क्योंकि 'व्यतीत' लेखक के पिछले उपन्यासों से विशेष भिन्न नहीं है।

अनैतिकता और अश्लीलता सम्बन्धी इन आरोपों का प्रधान उत्तर यही दिया जा सकता है कि जैनेन्द्र की तात्त्विक दृष्टि में स्थूल सामाजिक नैतिक-विधान का अधिक महत्व नहीं है।

देखिए, वकील साहब ('कल्याणी') के शब्दों में जैसे स्वयं लेखक बोल रहा है—"शाब्दिक विशेषण मेरे काम नहीं आते, सब उथले, ओछे रह जाते हैं। आप ही बताइए, कल्याणी असरानी की याद को मैं क्या कह दूँ कि वह खोटी थी या कहूँ कि वह अच्छी थी ? पर बुद्धि निर्मित ये सब शब्द सतह की लहरों को गिनते हैं, गहराई को वे कहाँ नापते हैं ? क्या वे उसको तनिक भी पाते हैं जो अन्तर्गत है ? जो अनुभव होता है, क्या वह शब्दों में आता है ? रेखा में बँधता है ?"[1] एक अन्य स्थल पर—"पर समझ-समझ की बातें हैं। हरेक की समझ अपनी है। अपने से बढ़कर किसी के लिए दूसरे की समझ होना कठिन है। अर्थात् एक के लिए दूसरे की समझ झूठ है। इस तरह सारी ही समझें झूठ हैं। यथार्थ यथार्थ है और तत्सम्बन्धी हमारी समझें (ज्ञान-विज्ञान) हमारे ही घरौंदे हैं, सच सब के पार है। इसी लिए कल्याणी की कहानी कहते समय आलोचना विवेचना से बचूं। सब दिमागी समझाव है।"[2]

जैनेन्द्र को तो 'स्व' और 'पर' की अखण्डता अभीष्ट है। और इस अभेद की *प्राप्ति में स्थूल नैतिकता बाधक नहीं हो सकती। जहाँ कहीं भी समाज के नीति-*नियम विरोध में आते हैं वहाँ उनके कारण अप्रेम का आचरण न करके जैनेन्द्र के पात्र उन नियमों का परिहार करके प्रेम और अभेद की ओर ही प्रवृत्त होते हैं। अपने पतियों के विश्वास और प्रश्रय को पाने पर ही निरीह आत्मा आत्मसमर्पण के लिए तत्पर होती है। इसके अतिरिक्त, हरिप्रसन्न, जितेन, लाल तथा जयन्त के व्यक्तित्वों की दुर्दान्तता और भीषणता की अहंवृत्ति-परक ग्रन्थियों को खोलने के लिए नारी पात्रों की ओर से सप्रेम व्यवहार अपेक्षित था। इन चारों पात्रों की अहंमन्यता की ग्रन्थियाँ प्रेमपूर्ण व्यवहार से टकराकर खुलने लगती हैं और वे फिर अपने साधारण (normal) स्तर पर आ जाते हैं। प्रेम और अनुप्राणना की यह विजय ही जैनेन्द्र को अभीप्सित है।

---

१. कल्याणी पृ०—८० २. कल्याणी पृ०—८१

कल्याणी के चरित्र में अनैतिकता (परपुरुष-गमन जिसका प्रवाद समाज में चल रहा था) अकल्पनीय है। कल्याणी में पति के प्रति समर्पित होने की इतनी अधिक चेष्टा है कि वह चेतनावस्था में तो डा० भटनागर, अथवा राय साहब, अथवा अन्य किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित कर ही नहीं सकती।

मृणाल के विषय में अनैतिकता के प्रश्न का उत्तर पहले ही विस्तार से दिया जा चुका है।

किन्तु फिर भी 'सुनीता' में संकेत और संयम का अभाव है। इस का कारण यह है कि 'सुनीता' तक शैली के इन गुणों का पूर्ण विकास नहीं हुआ था।

उपन्यासकार जैनेन्द्र पर दूसरा आक्षेप पलायनवादिता का है। प्रस्तुत उपन्यासों में सामयिक सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक प्रश्नों व समस्याओं की अवहेला ही इस आक्षेप के मूल में है। उदाहरणार्थ 'सुखदा' और 'विवर्त' के सम्बन्ध में श्रीपत राय के शब्द उल्लेखनीय हैं :—"दोनों तिलस्म हैं—दिवास्वप्न तो वे नहीं हैं क्योंकि स्वप्न में शायद अधिक विश्वसनीयता हो। यहाँ सौन्दर्य तो क्या, काल्पनिक सौन्दर्य भी नहीं है। यथार्थ से वे बहुत दूर हैं—सामाजिक यथार्थ से भी और वैयक्तिक यथार्थ से भी क्योंकि न वे समाज के प्रति सच्चे हैं, न व्यक्ति के। (क्या व्यक्ति से अलग समाज के प्रति सचाई सम्भव है ?) जीवन कहीं उनमें है ही नहीं। जीवन के चित्र वे हैं ही कब ?"[1] और चूँकि 'सुखदा' और 'विवर्त' से जैनेन्द्र के अन्य उपन्यास भी 'सामाजिक यथार्थ' अथवा 'जीवन' की दृष्टि से भिन्न नहीं हैं, अतः उनके सम्बन्ध में भी ये वचन सत्य हो सकते हैं।

किन्तु उपन्यास के कर्तव्य-कर्म के सम्बन्ध में राय जी की धारणा अत्यन्त संकुचित प्रतीत होती है। वह यह मान बैठे हैं कि भौतिक यथार्थ के प्रति ही उपन्यास में अपने विचार प्रकट किये जा सकते हैं। फिर मानसिक यथार्थ के लिए स्थान कहाँ मिलेगा ? यदि उपन्यास के उद्देश के प्रति राय जी की धारणा संकीर्ण नहीं है, तो निश्चय ही जैनेन्द्र के औपन्यासिक प्रतिपाद्य से वह अपरिचित है। अन्यथा, क्या यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में यथार्थता तो है नहीं, दिवास्वप्न भी नहीं वे मात्र तिलस्म हैं ? वास्तविकता यह है कि जैनेन्द्र अपने उपन्यासों में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार के यथार्थों के प्रति जागरूक हैं। आलोच्य कृतियों में म

१. "वैराग्य के पुजारी"—"आलोचना, जनवरी" ४५।

की तत्परता के सम्बन्ध में 'ग्रयम' और 'ग्रशोभन' शब्दों को तो श्रीपत राय जैसे आलोचकों की ओर से व्यवहृत किया ही जा सकता है क्योंकि 'व्यतीत' लेखक के पिछले उपन्यासों से विशेष भिन्न नहीं है।

अनैतिकता और अश्लीलता सम्बन्धी इन आरोपों का प्रधान उत्तर यही दिया जा सकता है कि जैनेन्द्र की तात्विक दृष्टि में स्थूल सामाजिक नैतिक-विधान का अधिक महत्त्व नहीं है।

देखिए, वकील साहब ('कल्याणी') के शब्दों में जैसे स्वयं लेखक बोल रहा है—"शाब्दिक विशेषण मेरे काम नहीं आते, सब उथले, ओछे रह जाते हैं। आप ही बताइए, कल्याणी असरानी की याद को मैं क्या कह दूँ कि वह खोटी थी या कहूँ कि वह अच्छी थी ? पर बुद्धि निर्मित ये सब शब्द सतह की लहरों को गिनते हैं, गहराई को वे कहाँ नापते हैं ? क्या वे उसको तनिक भी पाते हैं जो अन्तर्गत है ? जो अनुभव होता है, क्या वह शब्दों में आता है ? रेखा में बँधता है ?"[1] एक अन्य स्थल पर—"पर समझ-समझ की बातें हैं। हरेक की समझ अपनी है। अपने से बढ़कर किसी के लिए दूसरे की समझ होना कठिन है। अर्थात् एक के लिए दूसरे की समझ झूठ है। इस तरह सारी ही समझें झूठ हैं। यथार्थ यथार्थ है और तत्सम्बन्धी हमारी समझें (ज्ञान-विज्ञान) हमारे ही घरौंदे हैं, सच सब के पार है। इसी लिए कल्याणी की कहानी कहते समय आलोचना विवेचना से बचूँ। सब दिमागी समझाव है।"[2]

जैनेन्द्र को तो 'स्व' और 'पर' की अखण्डता अभीष्ट है। और इस अभेद की प्राप्ति में स्थूल नैतिकता बाधक नहीं हो सकती। जहाँ कहीं भी समाज के नीति-नियम विरोध में आते हैं वहाँ उनके कारण अप्रेम का आचरण न करके जैनेन्द्र के पात्र उन नियमों का परिहार करके प्रेम और अभेद की ओर ही प्रस्तुत होते हैं। अपने पतियों के विश्वास और प्रणय को पाने पर ही निरीह आत्मा आत्मसमर्पण के लिए तत्पर होती है। इसके अतिरिक्त, हरिप्रसन्न, जितेन, लाल तथा जयन्त के व्यक्तित्वों की दुरन्तता और भीषणता की अहंवृत्ति-परक ग्रन्थियों को खोलने के लिए नारी पात्रों की ओर से सप्रेम व्यवहार अपेक्षित था। इन चारों पात्रों की अहम्मन्यता की ग्रन्थियाँ प्रेमपूर्ण व्यवहार से टकराकर घुलने लगती हैं और वे फिर अपने साधारण (normal) स्तर पर आ जाते हैं। प्रेम और सद्भावना की यह विजय ही जैनेन्द्र को अभीप्सित है।

---

१ कल्याणी पृ०—८०   २. कल्याणी पृ०—९१

कल्याणी के चरित्र में अनैतिकता (परपुरुष-गमन जिसका प्रवाद समाज में फैल रहा था) अकल्पनीय है। कल्याणी में पति के प्रति समर्पित होने की इतनी अधिक चेष्टा है कि वह चेतनावस्था में तो डा० भटनागर, अथवा राय साहब, अथवा अन्य किसी पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापित कर ही नहीं सकती।

मृणाल के विषय में अनैतिकता के प्रश्न का उत्तर पहले ही विस्तार से दिया जा चुका है।

किन्तु फिर भी 'सुनीता' में संकेत और संयम का अभाव है। इस का कारण यह है कि 'सुनीता' तक शैली के इन गुणों का पूर्ण विकास नहीं हुआ था।

उपन्यासकार जैनेन्द्र पर दूसरा आक्षेप पलायनवादिता का है। प्रस्तुत उपन्यासों में सामयिक सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक प्रश्नों व समस्याओं की अवहेला ही इस आक्षेप के मूल में है। उदाहरणार्थ 'सुखदा' और 'विवर्त' के सम्बन्ध में श्रीपत राय के शब्द उल्लेखनीय हैं :—"दोनों तिलस्म हैं—दिवास्वप्न तो वे नहीं हैं क्योंकि स्वप्न में शायद अधिक विश्वसनीयता हो। यहाँ सौन्दर्य तो क्या, काल्पनिक सौन्दर्य भी नहीं है। यथार्थ से वे बहुत दूर हैं—सामाजिक यथार्थ से भी और वैयक्तिक यथार्थ से भी क्योंकि न वे समाज के प्रति सच्चे हैं, न व्यक्ति के। (क्या व्यक्ति से अलग समाज के प्रति सचाई सम्भव है?) जीवन कहीं उनमें है ही नहीं। जीवन के चित्र वे हैं ही कब?"[1] और चूँकि 'सुखदा' और 'विवर्त' से जैनेन्द्र के अन्य उपन्यास भी 'सामाजिक यथार्थ' अथवा 'जीवन' की दृष्टि से भिन्न नहीं हैं, अतः उनके सम्बन्ध में भी ये वचन सत्य हो सकते हैं।

किन्तु उपन्यास के कर्तव्य-कर्म के सम्बन्ध में राय जी की धारणा अत्यन्त संकुचित प्रतीत होती है। वह यह मान बैठे हैं कि भौतिक यथार्थ के प्रति ही उपन्यास में अपने विचार प्रकट किये जा सकते हैं। फिर मानसिक यथार्थ के लिए स्थान कहाँ मिलेगा? यदि उपन्यास के उद्देश के प्रति राय जी की धारणा संकीर्ण नहीं हैं, तो निश्चय ही जैनेन्द्र के औपन्यासिक प्रतिपाद्य से वह अपरिचित हैं। अन्यथा, क्या यह कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों में यथार्थता तो है नहीं, दिवास्वप्न भी नहीं, वे मात्र तिलस्म हैं? वास्तविकता यह है कि जैनेन्द्र अपने उपन्यासों में वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकार के यथार्थों के प्रति जागरूक हैं। आलोच्य कृतियों में न

१. "नैराश्य के पुजारी"—"आलोचना, जनवरी" ४५।

केवल वैयक्तिक यथार्थ और आदर्श (जिनकी प्रमुखता असंदिग्ध है) वर्तमान है, अपितु सामाजिक कल्याण के आदर्श की प्रतिष्ठा भी उनमें हुई है। विशिष्टता यही है कि उसका उपस्थापन और मानसिक धरातल पर हुआ है। जहाँ वे रचनाएँ एक ओर अहं के विगलन से आत्म-समन्विति (self harmony) का आदर्श सामने रखती हैं (जो वैयक्तिक सुख के लिए जितना यथार्थ है।), वहाँ दूसरी ओर, अहंकार के संस्कार से मनुष्य के व्यक्तित्व व चेतना का सर्वांगीण विकास एवं विस्तार ही होगा। वस्तुतः तथ्य यह है कि अपने उपन्यासों द्वारा लोक-कल्याण ही जैनेन्द्र का परोक्ष किन्तु मूल उद्देश है। ऐसी दशा में समाज के प्रति अवास्तविकता अथवा पलायनवादिता का आरोप जीवन के प्रति दृष्टि-भेद के कारण ही है। नहीं तो उपन्यासकार जैनेन्द्र जीवन के प्रति उतने ही सच्चे हैं जितने कि उपन्यासकार प्रेमचन्द।

पलायनवादिता का आरोप एक दूसरे प्रकार से भी लगाया जाता है। "लगता है लेखक सामाजिक उथल-पुथल की सम्भावना से त्रस्त है। उसके चिन्तन में ये पलायन के तत्व हैं।" अथवा "जैनेन्द्र किसी एक समस्या का समाधान देने का प्रयत्न नहीं करते, इसका कारण यह भी है कि उन्हें असंख्य समस्याएँ दीखती हैं, असंख्य प्रश्न, मानो, जीवन समस्याओं और प्रश्न चिह्नों का ही समुदाय हो। इतनी समस्याओं के सुलझाने की आशा कहाँ तक की जाये।"[1]

यह कहना कि जैनेन्द्र ने इन समस्याओं का समाधान नहीं किया है, वास्तव में अयथार्थ होगा। उनकी कला में और अन्य किसी उपन्यासकार की कला में यही भेद है कि जैनेन्द्र वक्तव्य को सीधा नहीं रखते, प्रत्युत उसकी ओर संकेत करके रह जाते हैं। क्या प्रमोद से जो जज होने के नाते समाज की प्रतिष्ठा-स्वरूप है, जजी से त्यागपत्र दिलवा देना इस बात की ओर संकेत नहीं कि जैनेन्द्र उन सामाजिक मान्यताओं और रूढ़ियों का प्रबल विरोध करते हैं जिन पर मृणाल पर किये गये अत्याचारों तथा अमानुषिक व्यवहार का दायित्व है ? अन्यथा प्रमोद (पी० दयाल) के त्यागपत्र की सार्थकता क्या है ? यह प्रश्न उठ सकता है कि स्वयं मृणाल ने सामाजिक अत्याचार के प्रति अपनी आवाज क्यों नहीं उठाई ? इसका उत्तर यही है कि मृणाल चूँकि स्वयं सामाजिक हिंसा का शिकार है, हिंसा का उत्तर हिंसा से नहीं दे सकती। यह जैनेन्द्र के उद्देश की पराजय होती है। यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है कि प्रमोद ने अपनी बुआ मृणाल के लिए समाज से खुला विद्रोह क्यों नहीं किया ? ऐसा न करने

१. लेख—"जैनेन्द्र की उपन्यास-कला," पुस्तक—"साहित्य चिन्ता"—ले० डा० देवराज।

का एकमात्र कारण है, उसके अपने व्यक्तित्व की दुर्बलता। उसमें इतना साहस ही नहीं था कि वह समाज से टक्कर ले। फलतः उसके पास एक यही मार्ग था कि वह समाज का बहिष्कार करे। और यही उसने किया भी। बुआ की मृत्यु पर जब उसके हृदय में समाज के विरुद्ध अतीव तिक्तता का भाव उदित होता है, तो वह जजी से त्यागपत्र दे देता है और हरिद्वार में शेष जीवन बिता देता है। कौन जानता है इस परिवर्तन से 'त्यागपत्र' के किसी भी पाठक का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ है?

'कल्याणी' के तमाम अस्तित्व में डा० असरानी के चरित्र के प्रति (यद्यपि इसका चित्रण भी सहानुभूति से हीन नहीं है) नापसंदगी का भाव ध्वनित है।

'परख' में सत्यधन के समाज सुधारक किन्तु आत्म-प्रवंचक चरित्र पर व्यंग्य है।

शेष उपन्यासों में समस्याएँ भौतिक इतनी नहीं हैं, जितनी कि मानसिक, यद्यपि वे सामाजिकता से विच्छिन्न नहीं हैं।

जैनेन्द्र पर यह लांछन भी लगाया गया है कि वह निराशावादी हैं और अपने साहित्य में नैराश्य का प्रतिपादन करते हैं। एक बार फिर श्रीपत राय के मत का हम यहाँ उल्लेख करते हैं "नैराश्य इन दोनों उपन्यासों ('सुखदा' व 'विवर्त') का संदेश है—नैराश्य को यदि यह संज्ञा दी जा सके। यहाँ तक भी मुझे आपत्ति नहीं है—यदि लेखक को यहाँ और अंधकार ही दिखाई देता है तो उसे अधिकार है कि उसे अंधकार ही कहे। पर जीवन के जिस प्रशस्त मार्ग में उसे जो कुछ दिखाई देता है, उसे अपने अंतिम निर्णय अथवा लक्ष्य से कलुषित करने का उसे अधिकार नहीं है।"[1]

बात यह है कि जैनेन्द्र नियतिवादी हैं और Cosmic Will-'परमात्मा' में प्रत्यय रखते हैं। कदाचित् उनके नियतिवाद को ही निराशावाद मान लिया गया है जो सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है।

जैनेन्द्र के नियतिवाद का परिचय संक्षेपतः इस प्रकार दिया जा सकता है—भवितव्य अज्ञेय और कल्पनातीत है। अनागत सदा अंधकार में रहता है। घटना-चक्र किस क्रम से घूमता है, यह हमारे लिए सर्वथा अज्ञात है। भाग्य का तर्क हमारे तर्कों और सिद्धान्तों में नहीं बँधता। भावी के प्रति हमारा सम्बन्ध विस्मय और उत्सुकता का ही हो सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि, चूंकि जीवन की

१. "नैराश्य के पुजारी"—"आलोचना"—जनवरी '५४।

गति हमारे तर्कों से स्वतन्त्र है, वह (जीवन की गति) तर्कहीन है। वास्तविकता यह है कि भवितव्यता में भी सुशृंखल-भाव वर्तमान रहता है, यद्यपि वह तर्क हमारे मति तर्कों (Rational logic) से भिन्न है।[1] जो भी घटित होता है, वह अनियम से नहीं होता, नियम से होता है। वही नियम ही नियति है। "वह धागा (जीवन का धागा) किस प्रकार किन रेशों से गूंथ कर बना है और कहाँ कौन बैठा हुआ उस अनन्त सूत्र को इस विश्व-चक्र पर ऐंठकर कातता जा रहा है। सच तो यह कि इस जीवन के सम्बन्ध में हमारा समस्त मंतव्य समुद्र के तट पर कौड़ियों से खेलने वाले बालकों के निर्णय की भाँति होगा।" यह नियति नामक तत्त्व हमारी अल्पज्ञता और अवशता और हमारे अहंकार की निस्सारता का हमें बोध कराता है।

"बहुत कुछ जो इस दुनिया में हो रहा है, वह वैसा ही क्यों होता है, अन्यथा क्यों नहीं होता—इसका क्या उत्तर है? उत्तर हो अथवा न हो, पर जान पड़ता है भवितव्य ही होता है। नियत (?) का लेख बँधा है। एक भी अक्षर उसका यहाँ से वहाँ न हो सकेगा। वह बदलता नहीं, बदलेगा नहीं।"[2]

किन्तु जब नियम है ही, अपनी इच्छा का नहीं, नियति या विधि की इच्छा का ही सही तो इस समस्त नियमन का लक्ष्य तो होना ही चाहिए। जैनेन्द्र कहते हैं कि प्रेम से बढ़कर और क्या नियम हो सकता है? उनकी अनुभूति है कि जीवन की सिद्धि अभेद-अनुभूति में है। जाने-अनजाने प्रत्येक 'स्व' उसी सिद्धि की ओर बढ़ रहा है।

साथ ही नियति में आस्था' जड़ता अथवा निस्पन्दता के भाव उत्पन्न करने के लिए नहीं है। मानव को निष्क्रिय और निष्कर्मण्य होना आवश्यक नहीं है। 'जो होता है और होगा वह उसके बिना और बावजूद नहीं होने पायेगा, उसके द्वारा और उसके सहकार से होनहार को होना होगा।'

इस प्रकार जैनेन्द्र का नियतिवाद निर्लक्ष्य नहीं है अथवा मनुष्य को जड़ नहीं बनाता। ऐसा नियतिवाद निराशावाद नहीं हो सकता क्योंकि निराशा लक्ष्य की सिद्धि के अभाव में (लक्ष्य के अभाव में भी) उत्पन्न होती है और अकर्मण्यता का कारण बनती है। अतएव जैनेन्द्र के उपन्यासों में निराशा ढूँढना भ्रान्ति से मुक्त नहीं है।

---

१. देखिये—लेख 'भाग्य में कर्म-परम्परा', पुस्तक 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'।
२. 'त्यागपत्र'—पृ० १६।

जैनेन्द्र की उपन्यास-कला पर 'आत्मपीड़न-प्रियता' (Masochism) का भी आरोप लगाया गया है। निश्चय ही आत्मपीड़न अथवा आत्मव्यथा जैनेन्द्र के प्रतिपाद्यों में से है। यह आत्मपीड़न उनका साध्य नहीं है, अपितु साध्य की सिद्धि के लिए साधन है और उनके अनेक पात्रों के चरित्र-निर्माण के एक प्रमुख तत्व के रूप में निरूपित किया गया है। वस्तु-स्थिति यह है कि आत्मपीड़न का यह निरूपण जैनेन्द्र में अपनी दोनों ही सीमाओं को छू गया है। दोनों सीमाएँ अथवा छोर क्रमशः इस प्रकार हैं—निम्नतम धरातल पर Masochism और उच्चतम धरातल पर साधना। कल्याणी का चरित्र निम्नतम धरातल के अधिक निकट आ गया है। डा० असरानी के प्रति समर्पित बने रहने की उसकी अनवरत चेष्टा कुछ हद तक उनके द्वारा अभिभूत (Dominated) होने में परिणत हो गई है। डा० असरानी, उसके पति, अनेक प्रकार से उस पर लांछनाएँ लगाते हैं। उनके अधिकार की वृत्ति उस समय चरम सीमा पर पहुँच जाती है जबकि वह कल्याणी को बीच-भरे बाजार में पीट बैठते हैं। इस पर भी कल्याणी पति का विरोध नहीं करती है। पति द्वारा अपने प्रेमी प्रीमियर का अनुचित उपयोग किए जाने के प्रसंग में कल्याणी की मानसिक यातना तीव्रतम हो जाती है किन्तु फिर भी निर्विरोध वह सब सहन करती है। उसका आत्म-प्रक्षेप (Self-projection) से युक्त (hallucination) उसके व्यक्तित्व की असाधारणता (abnormality) की ओर एक संकेत है। किन्तु कल्याणी के व्यक्तित्व में रुग्णता का हल्का-सा स्पर्श ही है क्योंकि कष्ट की स्वीकृति उसमें चेतन मन के स्तर पर और सविवेक हुई है। विवेक के इसी तत्व ने कल्याणी के चरित्र को अधिक रुग्ण बनाने से बचा लिया है। 'त्यागपत्र' की मृणाल के विषय में भी यही कहा जा सकता है। आत्मव्यथा की सजग व सविवेक स्वीकृति के कारण ही वह Masochist चरित्र नहीं बन सकी है।

सुनीता, कट्टो, सुखदा, मोहिनी और जयंत के चरित्रों में आत्मपीड़न का धवल रूप—साधना का रूप मिलता है। ये सभी पात्र अपने अथवा दूसरे के अहंकारों को घुलाने के लिए आत्मपीड़न की न्यूनाधिक साधना करते हैं। श्रीकान्त, कान्त, और नरेश तो जैसे सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं, साधक मात्र न रह कर सिद्ध हो चुके हैं।

सबसे बड़ा आश्चर्य इस बात पर होता है कि जैनेन्द्र पर उद्देश-हीनता अथवा दिशाहीनता का आरोप लगाया जाता है। [illegible] के लिए, डा० देवराज कहते हैं—'वस्तु-स्थिति यह है कि [illegible] एक निर्दिष्ट दिशा में

प्रयोग नहीं करते। उनका मनोवैज्ञानिक पर्यवेक्षण और दार्शनिक चिन्तन दोनों, अलग-अलग अथवा साथ-साथ एक हृदयगम्य प्रयोजन की पूर्ति के लिए प्रवृत्त नहीं होते।" अथवा "जैनेन्द्र के पात्र किसी भी लक्ष्य को लेकर चलते हुए दिखाई नहीं देते—उनके समझे जाने में यही एक बड़ी बाधा है।" हमारा इस विवेचन में आद्यन्त यही दिखाने का प्रयत्न रहा है कि जैनेन्द्र सोद्देश कलाकार हैं, कि उनके उद्देश क्या हैं? और उनका प्रतिपादन उनके उपन्यासों में कितनी सफलता से हुआ है। यह स्थापित किया जा चुका है कि जैनेन्द्र के दार्शनिक विचार और उनके सभी पात्र एक निर्दिष्ट किन्तु रहस्यावृत्त लक्ष्य लेकर चलते हैं। वस्तुतः दिशाहीनता का आरोप नितान्त निराधार है।

———

पाँचवाँ अध्याय

जैनेन्द्र की उपलब्धि और उनका भविष्य

(क) जैनेन्द्र और छायावाद

इस शताब्दी के दूसरे, तीसरे और चौथे दशकों में स्थूल के प्रति सूक्ष्म की
ी प्रतिक्रिया छायावाद और रहस्यवाद के नाम से हिन्दी काव्य-क्षेत्र में अभिव्यक्त हुई, वह वास्तव में कविता तक ही सीमित न थी। हिन्दी के उपन्यास और कहानी क्षेत्र में भी यह प्रतिक्रिया अभिव्यंजना पा रही थी। छायावाद की व्याख्या करते हुए महादेवी जी ने कहा है, "बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर
वि ने जीवन की अखण्डता का भावन किया, हृदय की भावभूमि पर उसने प्रकृति
ं बिखरी हुई सुन्दरता की रहस्यमयी अनुभूति की। और दोनों को मिलाकर एक
सी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, छायावाद आदि नामों
ा भार सँभाल सके।" "छायावाद करुणा की छाया में सौन्दर्य के माध्यम से व्यक्त
ोने वाला भावात्मक सर्ववाद ही है।" इन वाक्यों का यदि विश्लेषण करें तो
ायावाद के निम्नलिखित मौलिक उपादान या विशेषताएँ प्राप्त होती हैं :—

(१) जीवन की अखण्डता का भावन या भावात्मक सर्ववाद।

(२) करुणा की छाया, और

(३) प्राकृतिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का माध्यम।

उपन्यास के क्षेत्र में जैनेन्द्र को छायावादी उपन्यासकार कहा जा सकता है।
भेद इतना ही है कि जैनेन्द्र के छायावाद की लिपि प्रकृति नहीं है, मानव-चरित्र है।
कविता और उपन्यास की मूल प्रकृतियों को देखते हुए यह भेद सर्वथा नैसर्गिक है।
अन्यथा जैनेन्द्र में छायावाद की सभी विशेषताएँ वर्तमान हैं। जीवन की अखण्डता
का भावन, करुणा का गहरा संस्पर्श, स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की महत्ता, मूर्त स्थूल
सौन्दर्य को ग्रहण न करके आत्मा के अमूर्त सौन्दर्य की प्रतिष्ठा, बाह्य से विमुख होकर
अन्त:प्रयाण की प्रवृत्ति, जीवन के स्थूल और बहिरंग मूल्यों की स्थापना, सूक्ष्माति-

सूक्ष्म अनुभूतियों और संवेदनों की सफल अभिव्यक्ति आदि ही वे गुण हैं जो जैनेन्द्र को शरत आदि भावनावादी कलाकारों की कोटि में स्थान देते हैं।

(ख) जैनेन्द्र की कला की शक्ति और सीमा

मूल्यांकन के लिए अपने निजी अध्ययन की पृष्ठभूमि में जैनेन्द्र की उपलब्धियों का आकलन यहाँ आवश्यक है। इसके लिए जैनेन्द्र की कला की शक्ति और सीमा पर विचार किया जाता है।

शक्ति

जैनेन्द्र मूलतः अन्तर्जगत के कलाकार हैं। उपन्यासों के माध्यम से जीवन के शाश्वत प्रश्नों के समाधान पाने की उनकी चेष्टा है। चिरन्तन सत्यों के निरूपण और उद्घाटन से हिन्दी-क्षेत्र में उन्होंने उपन्यासों को एक नई शक्ति प्रदान की है। जीवन-खण्ड में समग्रता के दर्शन कराने की उनमें क्षमता है। चरित्रगत सूक्ष्म व प्रच्छन्न पक्षों के प्रकाशन में उनकी कला अत्यधिक सूक्ष्म है। मन के रहस्यात्मक गह्वरों में पैठने की जैनेन्द्र की अन्तर्दृष्टि असाधारण है, मनःस्थितियों तथा अन्तर्द्वन्द्वों के मार्मिक चित्रण में भी वह सिद्धहस्त हैं। मनोविश्लेषण में उनकी दृष्टि सर्वथा तात्विक है। और दार्शनिक चिन्तन तो उनके व्यक्तित्व का ही एक अंग है। विचारणा के इस अन्तःप्रवाह ने उनकी कला को एक प्रकार की गहनता और शाश्वतता प्रदान की है जो दुष्प्राप्य है।

शिल्प की दृष्टि से प्रखरता और तीव्रता, एकतानता और गाढ़-बन्धत्व तथा कौतूहल और औत्सुक्य की स्थिरता जैनेन्द्र की उपन्यास कला के वे गुण हैं जो उन्हें महान शिल्पी का गौरव प्रदान करते हैं। घटनाओं के संयोजन में संकेत-शैली का प्रयोग जो उनकी कथाओं पर रहस्य का जाल बुनता है, उनकी अपनी विशेषता है।

सीमा

जैनेन्द्र के पात्रों में कर्मठता का अभाव है। यह कर्मठता पुरुष पात्रों से ही अपेक्षित होती है। जैनेन्द्र के पात्रों की एक श्रेणी तो ऐसी है ही कि उनमें अहंकार का दुर्भाव है, अतः उनसे कर्तृत्व की प्रचण्डता की आशा नहीं की जा सकती। पर उनके क्रान्तिकारी पात्रों में भी क्रान्ति की दीप्ति और तेज का अभाव है। उपन्यासकार ने उनके ठोस कार्य-व्यापारों का अधिक चित्रण नहीं किया है, जैसे कर्मठता उनके व्यक्तित्व में हो ही नहीं। वस्तुतः कर्मठता का अंकन जैनेन्द्र की कला को

अपेक्षित नहीं है। उदाहरण के लिए 'व्यतीत' के नायक जयन्त के व्यक्तित्व में कर्म की प्रचण्डता है पर लेखक ने उसका विस्तृत निरूपण न करके केवल कुछ संकेतों से ही काम चला लिया है क्योंकि मनस्तत्व ही जैनेन्द्र का क्षेत्र है, कार्य-व्यापारों से भरा वस्तुजगत नहीं। इस पर भी यदि पाठकों की ओर से पुरुष पात्रों की अकर्मठता की शिकायत है तो यह पात्रों के अन्तःपरीक्षण और विश्लेषण को अधिक न सहने के कारण ही है। अतः मनस्तत्व के साथ जैनेन्द्र की यह व्यस्तता गुण होते हुए भी उनकी व्यापक स्वीकृति की सीमा बन जाती है।

वस्तु-वैचित्र्य का अभाव जैनेन्द्र की औपन्यासिक कला की दूसरी सीमा है। 'सुनीता', 'सुखदा' और 'विवर्त' के कथानकों का निर्माण और अधिकांश पात्रों की कल्पना लगभग एक ही ढंग पर की गई है। यह ठीक है कि जैनेन्द्र को एक ही व्यापक और शाश्वत सत्य की प्रतिष्ठा सभी कृतियों में अभीष्ट है, पर यह भी कलाकार की कला की सीमा ही है कि वह एक ही बात को दस बार दस भिन्न तरीकों से नहीं कह सकता। स्वयं जैनेन्द्र ने अपनी इस सीमा का अनुभव किया प्रतीत होता है क्योंकि नव्यतम कृति 'व्यतीत' में कथानक का ढाँचा कुछ नई शैली पर निर्मित हुआ है।

जैनेन्द्र की कला की तीसरी सीमा है—जीवन की भौतिक वास्तविकताओं से दूरी। मोहन राकेश के शब्दों में, " 'सुनीता', 'सुखदा', और 'व्यतीत' में जो जीवन हमारे सामने आता है, वह एक बुद्धिवादी की टेबल पर बनता और घटित होता हुआ जीवन है, हमारे चारों ओर उमड़ता और हमें प्रभावित करता हुआ जीवन नहीं।" यद्यपि मोहन राकेश ने आलोच्य उपन्यासों की आत्मा को अच्छी तरह समझा प्रतीत नहीं होता है, फिर भी यह उद्धरण हमारे अभिप्राय को व्यक्त करता है कि जैनेन्द्र के उपन्यासों का जीवन दो प्रकार हो सकता है, एक तो 'हमारे चारों ओर का' और दूसरे हमारे अन्दर की ओर का, अर्थात् बहिर्जगत का या अन्तर्जगत का। जीवन के चार ही नहीं, पाँच आयाम होते हैं। चार आयाम जितने विस्तृत और व्यापक होते हैं, पाँचवाँ आयाम उतना ही गहरा और दुर्लभ्य होता है। जैनेन्द्र ने जीवन के पाँचवें आयाम अर्थात् अन्तर्जगत को ही अपना विषय बनाया है। और यद्यपि यह अन्तःप्रयास अपने आप में एक अत्यन्त समर्थ कला-शक्ति की अपेक्षा रखता है फिर भी अव्यापकता का दोष तो आ ही जाता है। जैनेन्द्र ने उस जगत का चित्रण किया है जो असाधारण पाठक के हाथ बढ़ाने पर भी हाथ में नहीं आता, यदि कुछ आता भी है तो फिर हाथ से निकल जाता है। उन्होंने उस जगत का चित्रण नहीं किया है जिसकी ठोसता और ऊष्मता साधारण पाठक भी अपने पैर तले अनुभव करता है।

यत्र-तत्र दार्शनिक उद्गारों से जैनेन्द्र के उपन्यासों में गाम्भीर्य और गहनता का जो समावेश हुआ है, उसका भी जैनेन्द्र के अनेक पाठकों ने स्वागत नहीं किया है। "परन्तु जब से जैनेन्द्र जी मनोवैज्ञानिक निर्माण के साथ दर्शन का पुट अधिक मिलाने लगे हैं, तब से उनकी रचनाओं का प्रभाव और उत्कर्ष संदिग्ध हो गया है।" यद्यपि प्रस्तुत लेखक इस दर्शन के पुट से जैनेन्द्र की उपन्यास-कला का कोई अपकर्ष नहीं देखता प्रत्युत उसे कला का अलंकरण ही मानता है, फिर भी इन अनेकानेक पाठकों की रुचि और मत की अवहेलना भी कैसे की जा सकती है।

जैनेन्द्र के प्रायः सभी कथानकों पर एक प्रकार का रहस्यमय आवरण छाया हुआ है। इस आवरण के स्वरूप और कारणों पर कथा-वस्तु का विवेचन करते समय पीछे विचार हो चुका है। यद्यपि जैनेन्द्र के साहित्यिक उद्देश्य और कला का सूक्ष्म अध्ययन किया जाए तो यह रहस्यमयता स्पष्टता में बदल जाती है पर जैनेन्द्र के उपन्यास अपनी सांकेतिक शैली के कारण स्वयं इतने समर्थ नहीं हैं कि जैनेन्द्र के वक्तव्य को सरलता से स्पष्ट कर दें। यह सांकेतिक शैली जहाँ एक ओर सूक्ष्म सौन्दर्य की सृष्टि करती है वहाँ इसने जैनेन्द्र की कला का बड़ा अपकार भी किया है। अनेक समीक्षकों ने रहस्यमयता को अस्पष्टता मान लिया और जैनेन्द्र की कला को निरुद्देश्य का विश्लेषण देकर उन्हें "अँधियारे पथ पर भटकता" हुआ पाया है। समीक्षकों के पक्ष में यह प्रमाद भी कहा जा सकता है कि जैनेन्द्र के साहित्य को पढ़ते हुए वे गहरे पानी में नहीं पैठे हैं पर साधारण पाठक की दृष्टि से जैनेन्द्र की कला में प्रसाद गुण का अधिक अभिनिवेश आवश्यक है। रहस्यमयता और दुर्बोधता को देखते हुए जैनेन्द्र की स्थिति, यदि एक बार फिर तुलना करें तो, छायावादी कवियों जैसी ही है।

(ग) जैनेन्द्र प्रतिभा की कसौटी पर

आलोचक-प्रवर डा० नगेन्द्र ने अपने एक लेख[1] में प्रतिभा या महानता के छः उपादानों का उल्लेख किया है। महान् कलाकार की ये कसौटियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) तेजस्विता—यह गुण कलाकार में व्यक्तित्व के गहन आन्तरिक संघर्ष से उत्पन्न होता है। अन्तर्द्वन्द्व की रगड़ खा-खा कर ही मनुष्य के व्यक्तित्व में तेज आता है, उसकी चेतना शक्ति अत्यन्त प्रखर हो जाती है और उसकी अनुभूति में तीव्रता आ जाती है।

(२) प्रखरता और तीव्रता—चेतना को उद्बुद्ध करने वाला गुण प्रखरता है। इसके लिए आत्मा की गहराइयों में उतरना और आत्मा की पीड़ा को साहित्य

१. 'प्रेमचन्द की उपन्यास-कला'—(विचार और विवेचन)

की मूल प्रेरणा बनाना अपेक्षित है। गहनतर अन्तर्जगत् की समस्याओं के विवेचन से कृति में प्रखरता और तीव्रता के गुण का आविर्भाव होता है। तेजस्विता के साथ-साथ यह गुण भी अन्तर्द्वन्द्व के कारण उत्पन्न होता है।

(३) महानता—चिरन्तन व शाश्वत प्रश्नों के तात्विक विवेचन से साहित्य में गहनता आती है। इसके लिए मौलिक चिन्तन और गम्भीर दर्शन की आवश्यकता रहती है।

(४) दृढ़ता—बौद्धिक सघनता और गहन दार्शनिक विश्वास अथवा अविश्वास से साहित्य में दृढ़ता आती है, स्थूल नैतिक व्यावहारिक विवेक पर आश्रित विवेचन से नहीं।

(५) सूक्ष्मता—चिन्तना और विचारणा के साथ-साथ सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि व सूक्ष्म विश्लेषण की भी आवश्यकता है।

(६) व्यापकता—व्यापकता का आशय सामयिक सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक व धार्मिक समाज के साहित्य में प्रतिफलन से है।

पाँच पहले गुण कलाकार के सशक्त और असाधारण व्यक्तित्व की अपेक्षा रखते हैं और अन्तिम गुण उसमें व्यापक मानवीय संवेदनशीलता की। डा० नगेन्द्र ने प्रेमचन्द की उपन्यास-कला को जब इन कसौटियों पर कसा तो वह एकमात्र व्यापकता की कसौटी पर खरी उतरी क्योंकि प्रेमचन्द के पास मानवतावादी दृष्टि तो थी पर उनके व्यक्तित्व की साधारणता में अन्य गुणों के उद्भव और विकास के लिए अवकाश न था। निष्कर्ष रूप में डा० नगेन्द्र ने प्रेमचन्द को, उनकी दृष्टि की व्यापकता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए भी, द्वितीय श्रेणी का ही उपन्यासकार माना है।

ऊपर परिगणित छहों दृष्टियों से यदि हम अपने आलोच्य उपन्यासकार का विश्लेषण करें, तो जैनेन्द्र के विषय में हमारा अध्ययन इसी बात की ओर निर्देश करता है कि जैनेन्द्र में तेजस्विता, प्रखरता, गहनता और सूक्ष्मता—इन चार गुणों की स्थिति असंदिग्ध है। जैनेन्द्रकुमार का व्यक्तित्व-विश्लेषण करते हुए यह स्थापित किया जा चुका है कि उनमें एक तीखा अन्तर्द्वन्द्व है जो अपनी चरम प्रखरता में उनके व्यक्तित्व को विभाजित-सा भी कर देता है। अपने इस अन्त:संघर्ष की रगड़ खा-खा कर उनके व्यक्तित्व में और वहाँ से उनके साहित्य में तेजस्विता और प्रखरता आ

गई है। जैनेन्द्र के उपन्यासों में चेतना को उद्बुद्ध करने की शक्ति है क्योंकि लेखक ने अपनी अन्तरात्मा की यातना ही को अपनी रचनाओं का संप्रेषणीय बनाया है। साथ ही उसने अपने पात्रों के मन की गहराइयों में उतरने का सफल प्रयास किया है। गहनता और सूक्ष्मता भी जैनेन्द्र को सहज सिद्ध है। जीवन के सनातन प्रश्नों को उठाने और उनके समाधान के प्रयत्न में जैनेन्द्र की कला सूक्ष्म और तात्विक चिन्तन और विश्लेषणों से भरी पड़ी है। दर्शन के प्राध्यापक डा० देवराज ने स्वयं यह प्रश्न किया है कि "स्वयं स्पीनोज़ा और कांट ने भी इससे अधिक गम्भीर बातें कब कहीं हैं ?" जैनेन्द्र की कला में दृढ़ता की स्थिति इस लिए संदिग्ध है कि जैनेन्द्र की निरीहता, और नियतिवाद के संदर्भ में यह बात कुछ अधिक जँचती नहीं है। यह नहीं कि जैनेन्द्र के विश्वास ढीले और कमज़ोर हैं पर उनमें कट्टरता की दृढ़ता और शक्ति नहीं है क्योंकि प्रेम और अहिंसा की बातों से कट्टरता मेल नहीं खाती।

और व्यापकता का तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, "जैनेन्द्र की कला में सर्वथा अभाव है। पर यह अपूर्णता साधारण नहीं है। व्यापकता अपने आप में एक बहुत बड़ा गुण है। जैसा कि अज्ञेय ने स्वीकार किया है, "प्रेमचन्द को हम पीछे छोड़ आए, यह दावा हम उसी दिन कर सकेंगे जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रकट हो। उसके बाद ही हम कह सकेंगे कि प्रेमचन्द का महत्व ऐतिहासिक है।" और वस्तुतः उपन्यास नाम की साहित्यिक विधा अपने-आप में भी इस बात की अपेक्षा रखती है कि जीवन की व्यापक से व्यापक मानवीय संवेदनाओं और अनुभवों को उसकी सीमा में बाँधा जाये, कि मानव सत्य को उसके समग्र परिवेश और बहुविध आयामों में अभिव्यक्त किया जाये। साथ ही उपन्यास-कृति में 'मानव-मानसिकता के अंश की यथायोग्य मात्रा दे कर' मनुष्य के आभ्यन्तरिक जगत का सच्चा प्रतिनिधित्व' करते हुए व्यापकता के अतिरिक्त अन्य वांछनीय गुणों का, सन्निवेश भी किया जा सकता है। ऐसी सफलता की दृष्टि से एमिल जोला, अर्नेस्ट हैमिंग्वे आदि अनेक पाश्चात्य उपन्यासकारों के नाम लिए जा सकते हैं। पर इस विश्व के छोटे-से-छोटे खण्ड को लेकर सफल चित्र बनाने और उसमें सत्य के दर्शन करने और कराने में अपनी कला की सक्षमता के कारण जैनेन्द्र विशाल चित्रफलक का प्रयोग नहीं करते। उनका काम जीवन के खण्ड-चित्र से ही चल जाता है।

इस प्रकार व्यापकता और दृढ़ता के अभाव में जैनेन्द्र की कला का यदि मूल्यांकन किया जाये तो जैनेन्द्र, मैं समझता हूँ,[1] यदि विश्व के प्रथम श्रेणी के

---

१. लेखक अपने मूल्यांकन का किसी पर आरोप नहीं करना चाहता, अतः —मैं समझता हूँ।

साहित्यकारों में अभी नहीं आ पाये हैं तो उस श्रेणी के द्वार पर तो अवश्य ही पहुँच गए हैं। प्रवेश करने के लिए अपने सहज गुणों के साथ-साथ विशाल चित्रफलक का निर्माण, मेरी विनम्र सम्मति में, उनके लिए सरलतम मार्ग है। इससे उनकी कला को परिसौष्ठव और पूर्णता प्राप्त होगी।

(घ) जैनेन्द्र और अन्य समीक्षकों के मूल्यांकन— शान्तिप्रिय द्विवेदी—"जैनेन्द्र की शैली दृष्टान्तात्मक कथा की नवीन शैली है, प्रवचन की पद्धति का उन्होंने साहित्यिक विकास किया है...... । उनकी भाषा सत्य के शोध की भाषा है, अतएव उसमें मनोवैज्ञानिक उत्तरदायित्व अधिक है।... वे सूक्ष्मदर्शी मनोवैज्ञानिक दार्शनिक हैं।"[1]

डा० नगेन्द्र—इसकी विवेचना करते हुए कि निरन्तर अन्तर्मन्थन, कचोट और जलन जैनेन्द्र-साहित्य के पोषक तत्त्व हैं, डा० नगेन्द्र आगे कहते हैं, "यही से उसे वह तीखापन और धार मिलती है जो उसकी सब से बड़ी शक्ति है और जिसके कारण अपने क्षेत्र में उसका आज भी कोई प्रतिद्वन्दी नहीं।"[2]

शचीरानी गुर्टू—जैनेन्द्र और मेरीडिथ की समता को स्पष्ट करते हुए शची-रानी कहती हैं, "चूंकि जैनेन्द्र और मेरीडिथ की ग्रहण शक्ति बड़ी तीव्र है—उन्होंने अपने युग की मूल भावनाओं को सजग बुद्धि से स्वीकार करके उनका मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। वे अपनी सहज चेतना से जो जीवन पा सके हैं, उसे अत्यन्त मार्मिकता के साथ बहिर्गत किया है और मानविक गहनतम अनुभूतियों में बैठ कर एक निरपेक्ष द्रष्टा की भाँति उसके अनुभावित सत्य को व्यक्त किया है।"[3]

डा० देवराज—जैनेन्द्र की दार्शनिक विचारणा के स्वरूप पर विचार करते हुए डा० देवराज कहते हैं, "इस दृष्टि से जैनेन्द्र की प्रतिभा अप्रतिद्वन्दिनी है। बौद्धिक गहनता और नैतिक सूक्ष्म विश्लेषण में, शायद, हमारे देश का कोई उपन्यासकार उनकी समता नहीं कर सकता। उनकी दृष्टि और कला युग-युग की जिज्ञासा और वेदना में प्रतिष्ठित है।"

अन्त में डा० देवराज के इन शब्दों से यह लेखक भी सहमत है, "जैनेन्द्र पर लिखते हुए प्रस्तुत लेखक को महसूस होता है कि वह ऊँचे धरातल पर चल रहा है।

१. सामयिकी—पृ० २२४।
२. 'जैनेन्द्र, उनकी प्रतिभा और व्यक्तित्व' (लेख)—अभी तक अप्रकाशित।
३. 'जैनेन्द्र और मेरीडिथ'—साहित्य दर्शन।

वे सचमुच एक असाधारण लेखक हैं। विश्व में ऐसे विचारोत्तेजक लेखक थोड़े ही हैं।"[1]

(ट) जैनेन्द्र का भविष्य— जैनेन्द्र के भविष्य की बात इसलिए नहीं की जा रही है कि हमें उनके भविष्य के प्रति कोई आशंका है। इसके विपरीत हमें उनके उन्नततर और उज्ज्वलतर भविष्य की पूर्ण आशा है। प्रौढ़ वय के साथ जैनेन्द्र की कला भी प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी है। हमें उनकी कला-प्रतिभा में पूर्ण आस्था है कि वह अभी आगामी अनेक वर्षों तक विश्व-श्रेणी के इतिहास का सृजन करती रहेगी।

०

१. 'जैनेन्द्र की उपन्यास-कला' ('साहित्य-चिन्तन')—डा॰ देवराज।

सहायक ग्रन्थ

(१) साहित्य का श्रेय और प्रेय — जैनेन्द्र कुमार
(२) ये और वे — जैनेन्द्र कुमार
(३) हिन्दी पुस्तक-साहित्य — माताप्रसाद गुप्त
(४) साहित्यालोचन — डा० श्यामसुन्दर दास
(५) हिन्दी-साहित्य — डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
(६) हिन्दी गद्य की प्रवृत्तियाँ (निबंध-संग्रह) राजकमल प्रकाशन, बम्बई।
(७) आधुनिक हिन्दी साहित्य — डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
(८) आधुनिक हिन्दी-साहित्य का विकास — डा० श्रीकृष्ण लाल
(९) हिन्दी-साहित्य — नंददुलारे वाजपेयी
(१०) साहित्य-चिन्ता — डा० देवराज
(११) नया हिन्दी साहित्य-एक दृष्टि — प्रकाशचन्द्र गुप्त
(१२) विचार और विवेचन — डा० नगेन्द्र
(१३) सियारामशरण गुप्त — डा० नगेन्द्र
(१४) दृष्टिकोण — विनयमोहन शर्मा
(१५) सामयिकी — शान्तिप्रिय द्विवेदी
(१६) साहित्य दर्शन — शचीरानी गुर्टू
(१७) हिन्दी-साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
(१८) काव्य के रूप — गुलाबराय
(१९) सिद्धान्त और अध्ययन — गुलाबराय
(२०) आलोचना वर्ष २ अंक १
आलोचना वर्ष १ अंक २
आलोचना का 'उपन्यास विशेषांक'
(२१) Art of the Novel — Henry James
(२२) Modern Fiction — Dr Herbert J. Muller
(२३) The Novel and the Modern World — Davis Daiches
(२४) Introduction to the Study of literature — Hudson
(२५) the Structure of the Novel — E. Muir
(२६) Aspects of the Novel — E. M. Forster
(२७) A short History of English Novel — S. Diana Neill